

## Chapter अट्टाईस

### अगले जन्म में पुरञ्जन को स्त्री-योनि की प्राप्ति

नारद उवाच

सैनिका भयनाम्नो ये बर्हिष्मन्दिष्टकारिणः ।

प्रञ्चारकालकन्याभ्यां विचेरुरवनीमिमाम् ॥ १ ॥

#### शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; सैनिकाः—सैनिक; भय-नाम्नः—भय के; ये—जो; बर्हिष्मन्—हे राजा प्राचीनबर्हिषत्; दिष्ट-कारिणः—काल की आज्ञा के पालक; प्रञ्चार—प्रञ्चार; काल-कन्याभ्याम्—तथा कालकन्या सहित; विचेरुः—घूमने लगे; अवनीम्—पृथ्वी पर; इमाम्—इस ।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजा प्राचीनबर्हिषत्, तत्पश्चात् यवनराज साक्षात् भय, प्रञ्चार, काल-कन्या तथा अपने सैनिकों सहित सारे संसार में विचरने लगा ।

तात्पर्य : मृत्यु के पूर्व की जीवन-अवस्था अत्यन्त भयावह होती है, क्योंकि प्रायः इसी में

निर्बलता तथा अनेक रोगों का शिकार बनना पड़ता है। शरीर पर आक्रमण करने वाले रोगों की तुलना यहाँ पर सैनिकों से की गई है। ये सैनिक भी कोई साधारण सैनिक नहीं, इनका संचालन यवनराज करता है। *दिष्ट-कारिणः* शब्द सूचित करता है कि वह उनका संचालक है। जब मनुष्य जवान होता है, तो वह बुढ़ापे की परवाह नहीं करता और मन-भर कर स्त्री-संभोग करता है, जिससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। तब तो वह मृत्यु को बुलाने लगता है। जो मनुष्य युवावस्था में जितना ही स्त्री-संभोग करता है, वह बुढ़ापे में उतना ही कष्ट पाता है।

त एकदा तु रभसा पुरञ्जनपुरीं नृप ।

रुरुधुभौमभोगाढ्यां जरत्पन्नगपालिताम् ॥ २ ॥

#### शब्दार्थ

ते—वे; एकदा—एक बार; तु—तब; रभसा—अत्यन्त वेग से; पुरञ्जन-पुरीम्—पुरञ्जन की नगरी को; नृप—हे राजा; रुरुधुः—घेर लिया; भौम-भोग-आढ्याम्—इन्द्रियभोग से परिपूर्ण; जरत्—बूढ़ा; पन्नग—सर्प द्वारा; पालिताम्—सुरक्षित।

एक बार इन भयानक सैनिकों ने पुरञ्जन-नगरी पर बड़े वेग से आक्रमण किया। यद्यपि यह नगरी भोग की सारी सामग्री से परिपूर्ण थी, किन्तु इसकी रखवाली एक बूढ़ा सर्प कर रहा था।

**तात्पर्य :** इन्द्रियतृप्ति में संलग्न रहने से शरीर दिन प्रतिदिन जर्जर होता जाता है। अन्त में शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि इसकी तुलना बूढ़े सर्प से की जाती है। पहले ही प्राण की तुलना सर्प से की जा चुकी है। जब शरीर के भीतर का प्राण क्षीण होने लगता है, तो शरीर भी क्षीण हो जाता है। इस समय मृत्यु के लक्षण चारों ओर मँडराने लगते हैं—अर्थात् यमराज के भयानक दूत दिखने लगते हैं और घोर आक्रमण करने लगते हैं। वैदिक प्रथा के अनुसार ऐसी अवस्था प्राप्त होने के पूर्व ही मनुष्य को घर छोड़कर ईश्वर के सन्देश का उपदेश करने के लिए आजीवन संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। किन्तु यदि मनुष्य घर पर रहता है और उसकी प्रिया पत्नी तथा पुत्र उसकी सेवा करते हैं, तो इन्द्रिय-तृप्ति के कारण वह निश्चय ही क्षीण होता चला जाता है और जब अन्त में मृत्यु आती है, तो ऐसा मनुष्य अपने पीछे आध्यात्मिक सम्पत्ति विहीन शरीर छोड़ जाता है। वर्तमान समय में तो बूढ़ा से बूढ़ा व्यक्ति भी अपने परिवार को नहीं छोड़ता, वह अपनी पत्नी, बच्चों, धन, ऐश्वर्य, घर इत्यादि से बँधा रहता है। इस प्रकार जीवन के अन्तकाल में मनुष्य को चिन्ता रहती है कि उसकी पत्नी की रक्षा कैसे होगी और वह परिवार को कैसे सँभालेगी। इस प्रकार सामान्यतः मृत्यु के पूर्व लोग अपनी पत्नी के

विषय में सोचते हैं। भगवद्गीता के (८.६) अनुसार—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

“मरते समय मनुष्य जिस किसी स्थिति के विषय में स्मरण करता है, उस स्थिति को वह निश्चित रूप से प्राप्त करता है।”

जीवन के अन्तकाल में मनुष्य सोचता है कि सारे जीवन में उसने क्या-क्या किया है और इस तरह जीवन के अन्त में उसके जो भी विचार तथा इच्छाएँ होती हैं उसी के अनुसार उसे दूसरा शरीर (देहान्तर) प्राप्त होता है। जो जीवन-भर घर में ही लिप्त रहता है उसके लिए स्वाभाविक है कि अन्तकाल में अपनी प्राणप्रिया पत्नी के विषय में सोचे। अतः अगले जीवन में उसे स्त्री का शरीर प्राप्त होता है और साथ में उसे पुण्य या पापकर्मों का फल भी मिलता है। इस अध्याय में राजा पुरञ्जन द्वारा स्त्री-देह प्राप्ति के विषय में विस्तार से बताया गया है।

कालकन्यापि बुभुजे पुरञ्जनपुरं बलात् ।

ययाभिभूतः पुरुषः सद्यो निःसारतामियात् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

काल-कन्या—काल की पुत्री ने; अपि—भी; बुभुजे—अधिकार कर लिया; पुरञ्जन-पुरम्—पुरञ्जन की नगरी पर; बलात्—बलपूर्वक; यया—जिसके द्वारा; अभिभूतः—चंगुल में फँसकर; पुरुषः—मनुष्य; सद्यः—तुरन्त; निःसारताम्—निकम्मापन; इयात्—प्राप्त करता है।

धीरे-धीरे कालकन्या ने घातक सैनिकों की सहायता से पुरञ्जन की नगरी के समस्त वासियों पर आक्रमण कर दिया और उन्हें सभी प्रकार से निकम्मा बना दिया।

तात्पर्य : जीवन के अन्त समय जब मनुष्य पर बुढ़ापे का आक्रमण होता है, तो उसका शरीर किसी काम के लायक नहीं रह जाता। इसीलिए वैदिक शिक्षा कहती है कि मनुष्य बचपन में बह्मचर्य का अभ्यास करे अर्थात् वह पूर्ण रूप से भगवान् की सेवा में लगा रहे और स्त्रियों से किसी प्रकार का सम्पर्क न रखे। जब बालक बड़ा होता है और २०-२५ वर्ष का होता है, तो उसका विवाह होता है। समय से विवाह होने पर तुरन्त ही उसके स्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट बच्चे उत्पन्न होते हैं। इस समय लड़कियों की संख्या बढ़ रही है, क्योंकि तरुण लोग संभोग के मामले में निर्बल हैं। लड़का (पुत्र) तभी उत्पन्न हो सकता है जब पुरुष का वीर्य स्त्री से प्रबल हो और यदि स्त्री प्रबल हुई तो लड़की उत्पन्न होती है।

अतः यदि कोई विवाह के बाद पुत्र की उत्पत्ति चाहता है, तो उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। पचास वर्ष की आयु प्राप्त होते ही मनुष्य को गृहस्थ जीवन का परित्याग कर देना चाहिए। उस समय तक पुत्र को बड़ा हो जाना चाहिए जिससे परिवार का सारा उत्तरदायित्व उसे सौंपा जा सके। तब पति-पत्नी को विरक्त जीवन बिताने के लिए दूर-दूर तीर्थस्थलों की यात्रा करनी चाहिए। जब पति-पत्नी घर तथा परिवार से विरक्त हो जाते हैं, तो पत्नी अपनी प्रौढ़ सन्तानों के संरक्षण में रहने के लिए घर वापस लौट आती है और गृहस्थी के कार्यों से अलग रहती है। तब पति भगवान् की कुछ सेवा करने के उद्देश्य से संन्यास ले लेता है।

यह सभ्यता की पूर्ण पद्धति है। मनुष्य-जीवन विशेष रूप से ईश्वर-साक्षात्कार के लिए है। यदि कोई जीवन के प्रारम्भ से कृष्णभक्ति नहीं करता तो जीवन के अन्त में उसे स्वीकार कराने का अभ्यास कराना चाहिए। दुर्भाग्यवश न तो बचपन में ऐसी शिक्षा का कोई प्रबन्ध है और न अन्तिम काल में ही कोई अपना परिवार छोड़ पाता है। ऐसी स्थिति है पुरञ्जन की नगरी इस देह की।

तयोपभुज्यमानां वै यवनाः सर्वतोदिशम् ।

द्वार्षिः प्रविश्य सुभृशं प्रार्दयन्सकलां पुरीम् ॥ ४ ॥

#### शब्दार्थ

तया—कालकन्या द्वारा; उपभुज्यमानाम्—अधिकृत; वै—निश्चय ही; यवनाः—यवनगण; सर्वतः-दिशम्—सभी दिशाओं से; द्वार्षिः—द्वारों से; प्रविश्य—घुस कर; सु-भृशम्—अत्यधिक; प्रार्दयन्—कष्ट देते हुए; सकलाम्—सर्वत्र; पुरीम्—नगरी में।

जब कालकन्या ने शरीर पर आक्रमण किया, तो यवनराज के घातक सैनिक विभिन्न द्वारों से नगरी में घुस आये। फिर वे सभी नागरिकों को अत्यधिक कष्ट देने लगे।

तात्पर्य : शरीर में नौ द्वार हैं—दो आँखें, दो नथुने, दो कान, एक मुँह, गुदा तथा शिश्न। जब मनुष्य को बुढ़ापा सताता है, तो शरीर के विभिन्न द्वारों पर रोगों का प्राकट्य होता है। उदाहरणार्थ, आँखों की ज्योति कम पड़ जाती है, जिससे चश्मे की जरूरत पड़ने लगती है और कानों से भी कम सुनाई पड़ने लगता है; अतः सुनने के सहायक यंत्र लगाने पड़ते हैं। नथुने कफ से सट जाते हैं और मनुष्य को सूँघने वाली अमोनिया की शीशी रखनी पड़ती है। इसी प्रकार मुँह के भीतर दाँत ठीक से चबा नहीं सकते, जिससे नकली दाँतों की आवश्यकता पड़ती है। गुदा भी कष्ट देने लगती है और ठीक से शौच नहीं हो पाता। कभी-कभी एनीमा लेना पड़ता है। मूत्र ठीक से न निकलने से कभी-कभी

अन्य सर्जिकल नली व्यवहार में लानी पड़ती है। इस प्रकार से सैनिकों ने पुरञ्जन की नगरी के विभिन्न द्वारों पर धावा बोल दिया। इस प्रकार बुढ़ापे में शरीर के सभी द्वार रोगों से अवरुद्ध हो जाते हैं और मनुष्य को अनेक ओषधियों तथा शल्य उपकरणों की सहायता लेनी पड़ती है।

तस्यां प्रपीड्यमानायामभिमानि पुरञ्जनः ।

अवापोरुविधांस्तापान्कुटुम्बी ममताकुलः ॥ ५ ॥

#### शब्दार्थ

तस्याम्—उस नगरी के; प्रपीड्यमानायाम्—विभिन्न कष्टों में पड़ कर; अभिमानि—अत्यधिक लिप्त; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन ने; अवाप—प्राप्त किया; उरु—अनेक; विधान्—प्रकार के; तापान्—क्लेश; कुटुम्बी—परिवार वाले; ममता—आकुलः—परिवार से लगाव के कारण अत्यधिक व्यग्र।

जब इस प्रकार वह नगरी सैनिकों तथा कालकन्या के द्वारा विपदाग्रस्त हो गई तो अपने परिवार की ममता में लिप्त राजा पुरञ्जन यवनराज तथा काल-कन्या के आक्रमण से संकट में पड़ गया।

तात्पर्य : जब हम शरीर का उल्लेख करते हैं, तो उसमें बाहरी स्थूल शरीर के विविध अंग, मन, बुद्धि तथा अहंकार सम्मिलित होते हैं। वृद्धावस्था में ये सब अत्यन्त निर्बल हो जाते हैं जिससे अनेक रोग आ घेरते हैं। शरीर का स्वामी आत्मा ठीक से काम न कर सकने के कारण अत्यन्त दुखी होता है। भगवद्गीता में स्पष्ट कहा गया है कि जीवात्मा ही इस शरीर का स्वामी (क्षेत्रज्ञ) है और यह शरीर कर्मभूमि (क्षेत्र) है। जब खेत में तरह-तरह के झाड़झंखाड़ उग आते हैं, तो खेत के स्वामी के लिए कार्य कर पाना कठिन हो जाता है। यही स्थिति आत्मा की हो जाती है, जब शरीर रोग के कारण भार बन जाता है। शरीर के ठीक से काम न करने तथा चिन्ता के कारण शरीर पर अतिरिक्त भार लदता रहता है।

कन्योपगूढो नष्टश्रीः कृपणो विषयात्मकः ।

नष्टप्रज्ञो हतैश्वर्यो गन्धर्वयवनैर्बलात् ॥ ६ ॥

#### शब्दार्थ

कन्या—कालकन्या के द्वारा; उपगूढः—आलिंगित होकर; नष्ट-श्रीः—समस्त सौंदर्य से रहित; कृपणः—कंजूस; विषय-आत्मकः—इन्द्रियतृप्ति में लिप्त; नष्ट-प्रज्ञः—बुद्धि से विहीन; हत-ऐश्वर्यः—ऐश्वर्य से वंचित; गन्धर्व—गन्धर्वों; यवनैः—तथा यवनों द्वारा; बलात्—बलपूर्वक।

कालकन्या द्वारा आलिंगन किए जाने से धीरे-धीरे राजा पुरञ्जन का सारा शारीरिक सौंदर्य

जाता रहा। अत्यधिक विषयासक्त होने से उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई और उसका सारा ऐश्वर्य नष्ट हो गया। सभी कुछ खो जाने पर गन्धर्वों तथा यवनों ने उसे बलपूर्वक जीत लिया।

**तात्पर्य :** जब मनुष्य बुढ़ापे का शिकार हो जाता है, किन्तु फिर भी इन्द्रियतृप्ति में लगा रहता है, तो उसका व्यक्तिगत सौंदर्य, बुद्धि तथा सारी सम्पत्ति क्रमशः नष्ट हो जाती है। इस प्रकार वह कालकन्या के प्रबल आक्रमण को सह नहीं पाता।

विशीर्णाम् स्वपुरीं वीक्ष्य प्रतिकूलाननादृतान् ।

पुत्रान्यौत्रानुगामात्याञ्जायां च गतसौहृदाम् ॥ ७ ॥

#### शब्दार्थ

विशीर्णाम्—छिन्न-भिन्न; स्व-पुरीम्—अपनी नगरी को; वीक्ष्य—देखकर; प्रतिकूलान्—प्रतिकूल बातें; अनादृतान्—अनादृत होकर; पुत्रान्—पुत्रों को; पौत्र—नाती; अनुग—नौकर; अमात्यान्—मंत्रीगण को; जायाम्—स्त्री को; च—यथा; गत-सौहृदाम्—प्रतिकूल।

तब राजा पुरञ्जन ने देखा कि उसकी नगरी अस्त-व्यस्त हो गई है और उसके पुत्र, पौत्र, नौकर तथा मंत्री सभी क्रमशः उसके विरोधी बनते जा रहे हैं। उसने यह भी देखा कि उसकी पत्नी स्नेहशून्य एवं अन्यमनस्क हो रही है।

**तात्पर्य :** जब मनुष्य अशक्त हो जाता है, तो उसकी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, अर्थात् वे उसके वश में नहीं रह जातीं। तब इन्द्रियाँ तथा विषय-वस्तुएँ उसका विरोध करना प्रारम्भ कर देती हैं। जब मनुष्य कष्टमय स्थिति में होता है, तो उसके परिवार के सदस्य भी—पुत्र, पौत्र तथा पत्नी तक—अनादर करने लगते हैं। तब वे घर के मालिक के वश में नहीं रहते। जिस प्रकार इन्द्रियतृप्ति के लिए इन्द्रियाँ आवश्यक हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों को बदले में शरीर से शक्ति की आवश्यकता होती है। मनुष्य अपने सुख के लिए परिवार बसाता है। इसी तरह परिवार के सदस्य घर के मुखिया से सुख चाहते हैं। जब उन्हें पर्याप्त धन नहीं मिलता तो उन्हें अरुचि उत्पन्न होती है और वे उसकी आज्ञाओं अथवा इच्छाओं का पालन नहीं करते। यह सब उसकी कृपणता के कारण होता है। कृपण शब्द छठे श्लोक में आया है और यह ब्राह्मण शब्द के विरोध में आया है। मनुष्य-जीवन पा करके उसे ब्राह्मण बनना चाहिए जिसका अर्थ होता है ब्रह्म की स्वाभाविक स्थिति को समझना और वैष्णव रूप में उसकी सेवा करना। हमें मनुष्य-जीवन में ही यह सुविधा मिलती है और यदि हम इस अवसर का सदुपयोग नहीं कर पाते तो हम कृपण बन जाते हैं। कृपण वह है, जिसके पास धन तो रहता है, किन्तु उसको वह ठीक से

खर्च नहीं करता। यह मनुष्य-जीवन विशेषतः ब्रह्म को समझने तथा ब्राह्मण बनने के लिए मिला है और यदि हम इसका ठीक से उपयोग नहीं करते तो हम कृपण बने रहते हैं। हम वास्तव में देख सकते हैं कि जिस मनुष्य के पास धन होता है, किन्तु वह उसे खर्चता नहीं तो वह कृपण बना रहता है और कभी सुखी नहीं रहता। इसी प्रकार जिसकी बुद्धि इन्द्रियतृप्ति के कारण भ्रष्ट हो जाती है, वह आजीवन कृपण बना रहता है।

आत्मानं कन्यया ग्रस्तं पञ्चालानरिदूषितान् ।

दुरन्तचिन्तामापन्नो न लेभे तत्प्रतिक्रियाम् ॥ ८ ॥

#### शब्दार्थ

आत्मानम्—अपने आपको; कन्यया—कालकन्या द्वारा; ग्रस्तम्—आलिंगित; पञ्चालान्—पञ्चाल; अरि-दूषितान्—शत्रुओं से दूषित; दुरन्त—अलंघ्य; चिन्ताम्—चिन्ता; आपन्नः—प्राप्त करके; न—नहीं; लेभे—प्राप्त किया; तत्—उसका; प्रतिक्रियाम्—उपाय।

जब राजा पुरञ्जन ने देखा कि उसके परिवार के समस्त प्राणी, उसके सम्बन्धी, अनुचर, दास, मंत्री तथा अन्य सभी उसके विरुद्ध हो गये हैं, तो वह अत्यन्त चिन्तित हुआ। किन्तु उसे इस स्थिति से छूटने का कोई उपाय न दिखाई दिया, क्योंकि वह कालकन्या द्वारा बुरी तरह परास्त कर दिया गया था।

तात्पर्य : जब मनुष्य वृद्धावस्था के कारण निर्बल हो जाता है, तो परिवार के सदस्य, नौकर तथा मंत्रीगण उसकी परवाह नहीं करते। तब वह इसका प्रतिकार करने में समर्थ नहीं रहता, वह अधिकाधिक चिन्तित होता है और अपनी दयनीय स्थिति पर पछताता रहता है।

कामानभिलषन्दीनो यातयामांश्च कन्यया ।

विगतात्मगतिस्नेहः पुत्रदारांश्च लालयन् ॥ ९ ॥

#### शब्दार्थ

कामान्—सुख के साधन; अभिलषन्—अभिलाषा करते हुए; दीनः—बेचारा; यात-यामान्—बासी; च—भी; कन्यया—कालकन्या के प्रभाव से; विगत—खोया हुआ; आत्म-गति—जीवन का असली लक्ष्य; स्नेहः—आसक्ति; पुत्र—पुत्रों; दारान्—पत्नी; च—तथा; लालयन्—दुलारते हुए।

कालकन्या के प्रभाव से विषयभोग की सारी वस्तुएँ बासी पड़ गई थीं। अपनी कामेच्छाओं के बने रहने के कारण राजा पुरञ्जन अत्यन्त दीन बन चुका था। उसे अपने जीवन-लक्ष्य का भी पता न था। वह अब भी अपनी पत्नी तथा बच्चों के प्रति अत्यन्त आसक्त था और उनके पालन

के सम्बन्ध में चिन्तित था।

**तात्पर्य :** आजकल की सभ्यता की यह सही-सही स्थिति है। प्रत्येक व्यक्ति शरीर, घर तथा परिवार के पालन में लगा हुआ है। फलतः प्रत्येक व्यक्ति जीवन के अन्तिम समय में भ्रमित हो जाता है और उसे इसका ज्ञान नहीं रहता कि आध्यात्मिक जीवन क्या है और जीवन का लक्ष्य क्या है। इन्द्रियतृप्ति की सभ्यता में भला आध्यात्मिक जीवन कैसे चल सकता है! क्योंकि मनुष्य केवल इस जीवन के विषय में सोचता रहता है। यद्यपि अगला जीवन एक तथ्य है, किन्तु उसे इसके विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती।

गन्धर्वयवनाक्रान्तां कालकन्योपमर्दिताम् ।

हातुं प्रचक्रमे राजा तां पुरीमनिकामतः ॥ १० ॥

**शब्दार्थ**

गन्धर्व—गन्धर्व सैनिकों; यवन—तथा यवन सैनिकों द्वारा; आक्रान्ताम्—हराया हुआ; काल-कन्या—कालकन्या द्वारा; उपमर्दिताम्—कुचला हुआ; हातुम्—त्यागने के लिए; प्रचक्रमे—बाध्य हुआ; राजा—राजा पुरञ्जन; ताम्—उस; पुरीम्—पुरी को; अनिकामतः—अनिच्छित।

राजा पुरञ्जन की नगरी गन्धर्व तथा यवन सैनिकों द्वारा जीत ली गई और यद्यपि राजा इस नगरी को त्यागना नहीं चाहता था, किन्तु परिस्थितिवश उसे ऐसा करना पड़ा, क्योंकि कालकन्या ने उसे कुचल दिया था।

**तात्पर्य :** जीव भगवान् की संगति से विलग होकर इस भौतिक जगत को भोगने का प्रयत्न करता है। उसे विशेष प्रकार का शरीर धारण करके, जो ब्रह्मा के शरीर से लेकर सूक्ष्म जीव तक का हो सकता है, इस संसार को भोगने का अवसर प्रदान किया जाता है। उत्पत्ति के वैदिक इतिहास से हमें पता चलता है कि ब्रह्मा पहला प्राणी था जिसने ब्रह्माण्ड की जनसंख्या बढ़ाने के लिए सात ऋषियों तथा प्रजापतियों को उत्पन्न किया। इस प्रकार प्रत्येक जीव अपने विगत कर्म के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त करता है, जो ब्रह्मा से लेकर मल में रहने वाले सूक्ष्मजीवाणु तक का हो सकता है। विशेष प्रकार के शरीर की दीर्घकालीन संगति तथा कालकन्या और माया के अनुग्रह से मनुष्य इस भौतिक शरीर के प्रति अत्यधिक आसक्त हो जाता है, यद्यपि यह शरीर पीड़ा का आगार है। भले ही कोई मनुष्य सूक्ष्म जीव को मल से विलग करने का प्रयास करे, किन्तु वह उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। वह लौटकर फिर मल में जाता है। इसी प्रकार सुअर प्रायः गन्दे स्थानों में रहता है, मल



खाता है और यदि कोई उसे हटाकर स्वच्छ स्थान में रखना चाहे तो वह फिर वहीं लौट आता है। इस प्रकार यदि हम प्रत्येक जीव का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि वह अधिक सुविधाप्रद स्थान में जाने का प्रतिकार करता है। यद्यपि राजा पुरञ्जन पर चारों ओर से आक्रमण हो रहे थे, किन्तु वह अपनी नगरी को छोड़ने को तैयार न था। दूसरे शब्दों में, जीव चाहे जैसी स्थिति में हो शरीर को त्यागना नहीं चाहता, किन्तु उसे छोड़ना ही पड़ेगा, क्योंकि भौतिक शरीर शाश्वत नहीं है।

जीव इस भौतिक जगत को विविध प्रकार से भोगना चाहता है, इसीलिए प्रकृति के नियम उसे एक शरीर से दूसरे में जाने की छूट देते हैं, जिस प्रकार मनुष्य शिशु से बालक तथा बालक से तरुण और फिर प्रौढ़ के शरीर को प्राप्त करता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। अन्तिम अवस्था में जब शरीर वृद्ध तथा अक्षम हो जाता है, तो जीव इसे छोड़ने में आनाकानी करता है, जब कि यह आगे किसी काम की नहीं रह जाती। यद्यपि यह संसार तथा भौतिक देह आरामदेह नहीं हैं, तो भी जीव इन्हें क्यों नहीं छोड़ना चाहता? ज्योंही मनुष्य को भौतिक देह प्राप्त होती है उसे इसके पालन के लिए कठिन श्रम करना पड़ता है। वह तरह-तरह के कार्यों में जुट जाता है और प्रत्येक दशा में उसे इस शरीर के पालन-हेतु श्रम करना ही पड़ता है। दुर्भाग्यवश समाज को आत्मा के देहान्तर के विषय में जानकारी नहीं है। चूँकि जीवात्मा सच्चिदानन्द रूप के शाश्वत साम्राज्य में प्रवेश करने की आशा नहीं रखता, इसलिए वह वर्तमान शरीर से चिपका रहना चाहता है, भले ही वह व्यर्थ क्यों न हो चुका हो। फलस्वरूप इस संसार में सबसे बड़े कल्याणकार्य कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को आगे बढ़ाना होगा।

यह आन्दोलन मानव-समाज को ईश्वर के धाम के विषय में यह जानकारी प्रदान करता है कि ईश्वर है, कृष्ण हैं और प्रत्येक जीव ईश्वर के पास लौटकर निरन्तर आनन्द तथा ज्ञान में रह सकता है। जो कृष्णभक्त है, वह इस शरीर को त्यागने से भयभीत नहीं रहता, क्योंकि उसकी स्थिति सदैव शाश्वत है। कृष्णभक्त सदैव भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा रहता है और शरीर त्यागने के बाद भी भगवान् की सेवा में निरन्तर बना रहा। भक्तजन सदैव मुक्त रहते हैं जबकि कर्मीजन इस जर्जर भौतिक देह को छोड़ने में अत्यधिक भयभीत रहते हैं।

**भयनाम्नोऽग्रजो भ्राता प्रज्वारः प्रत्युपस्थितः ।**

ददाह तां पुरीं कृत्स्नां भ्रातुः प्रियचिकीर्षया ॥ ११ ॥

**शब्दार्थ**

भय-नामः—भय नामक; अग्र-जः—बड़ा; भ्राता—भाई; प्रज्वारः—प्रज्वार ने; प्रत्युपस्थितः—वहाँ उपस्थित होकर; ददाह—आग लगा दी; ताम्—उस; पुरीम्—पुरी में; कृत्स्नाम्—पूरी तरह से; भ्रातुः—अपने भाई को; प्रिय-चिकीर्षया—प्रसन्न करने के लिए।

ऐसी दशा में यवनराज के बड़े भाई प्रज्वार ने अपने छोटे भाई भय को प्रसन्न करने के लिए नगरी में आग लगा दी।

**तात्पर्य** : वैदिक प्रथा के अनुसार शव का ही अग्निदाह किया जाता है, किन्तु मृत्यु के पूर्व भी एक दूसरी अग्नि या ज्वर होता है, जिसे प्रज्वार या विष्णुज्वार कहा जाता है। चिकित्सा विज्ञान इसकी पुष्टि करता है कि यदि मनुष्य का ताप १०७ डिग्री से अधिक बढ़ जाता है, तो मनुष्य तुरन्त मर जाता है। यह प्रज्वार जीव को जीवन की अन्तिम अवस्था में दहकती अग्नि में छोड़ देता है।

तस्यां सन्दह्यमानायां सपौरः सपरिच्छदः ।

कौटुम्बिकः कुटुम्बिन्या उपातप्यत सान्वयः ॥ १२ ॥

**शब्दार्थ**

तस्याम्—उस पुरी के; सन्दह्यमानायाम्—अग्नि में प्रज्वलित होने पर; स-पौरः—समस्त पुरवासियों सहित; स-परिच्छदः—समस्त नौकरों तथा भृत्यों सहित; कौटुम्बिकः—अनेक सम्बन्धियों वाला राजा; कुटुम्बिन्या—अपनी पत्नी सहित; उपातप्यत—उस अग्नि का ताप सहने लगा; स-अन्वयः—अपने अनुचरों सहित।

जब सारी नगरी जलने लगी तो सारे नागरिक तथा राजा के नौकर, उसके परिवार के सदस्य, पुत्र, पौत्र, पत्नियाँ तथा अन्य सम्बन्धी अग्नि की चपेट में आ गये। इस प्रकार राजा पुरञ्जन अत्यन्त दुखी हो गया।

**तात्पर्य** : शरीर के अनेक भाग होते हैं जैसे इन्द्रियां, अंग, त्वचा, पेशियाँ, रक्त रस और जिन्हें यहाँ पर आलंकारिक ढंग से पुत्र, पौत्र, नागरिक तथा नौकर-चाकर कहा गया है। जब शरीर पर विष्णुज्वार का आक्रमण होता है, तो इतना ताप उत्पन्न होता है कि मनुष्य को मूर्छा आ जाती है—इसका अर्थ यह है कि शरीर में इतनी पीड़ा होती है कि व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है उसे इस बात का पता ही नहीं चलता कि उसके शरीर में क्या हो रहा है। दरअसल, मृत्यु के समय मनुष्य इतना विवश हो जाता है कि न चाहते हुए भी उसे अपना शरीर त्याग करके दूसरे में प्रवेश करना पड़ता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य भले ही वैज्ञानिक प्रगति के बल पर अपने रहन-सहन की स्थिति में अस्थायी रूप से सुधार कर ले, किन्तु वह जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु के कष्टों को दूर नहीं कर सकता। ये सब प्रकृति

के माध्यम से भगवान् के वश में हैं। मूर्ख व्यक्ति इस सीधी-सी बात को नहीं समझ सकता। आजकल लोग समुद्र के गर्भ में पेट्रोलियम की खोज कर रहे हैं, उन्हें भविष्य की चिन्ता है, किन्तु वे जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु की स्थितियों को सुधारने का कोई प्रयास नहीं करते। इस प्रकार अज्ञानी पुरुष अपने भविष्य के विषय में कुछ भी न जानने के कारण अपने सारे कार्यों में परास्त होता रहता है।

यवनोपरुद्धायतनो ग्रस्तायां कालकन्यया ।

पुर्या प्रञ्चारसंसृष्टः पुरपालोऽन्वतप्यत ॥ १३ ॥

#### शब्दार्थ

यवन—यवनों द्वारा; उपरुद्ध—आक्रमण किया गया; आयतनः—अपना घर; ग्रस्तायाम्—अधिकार में किया गया; काल-कन्यया—कालकन्या द्वारा; पुर्याम्—नगरी; प्रञ्चार-संसृष्टः—प्रञ्चार द्वारा निकट पहुँचा जाकर; पुर-पालः—नगरी का पालक; अन्वतप्यत—अत्यन्त दुखी हुआ।

जब नगरी की रखवाली करने वाले सर्प ने देखा कि नागरिकों पर काल-कन्या का आक्रमण हो रहा है, तो वह यह देखकर अत्यन्त सन्तप्त हुआ कि यवनों ने आक्रमण करके उसके घर में आग लगा दी है।

तात्पर्य : जीव दो प्रकार के शरीरों को ओढ़े रहता है—सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर। मृत्यु के समय यह स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, किन्तु सूक्ष्म शरीर द्वारा जीव किसी दूसरे स्थूल शरीर में ले जाया जाता है। आधुनिक युग के तथाकथित वैज्ञानिक यह नहीं देख सकते कि किस प्रकार सूक्ष्म शरीर एक शरीर से दूसरे में आत्मा को ले जाने का कार्य करता है। इस सूक्ष्म शरीर को नगरी के रक्षक सर्प के रूप में वर्णित किया गया है। जब चारों ओर आग लगी हो तो नगर का रक्षक (पुलिस अधीक्षक) भी भगकर नहीं निकल सकता। जब नगरी में सुरक्षा स्थापित रहती है और आग का अभाव होता है, तो पुलिस अधीक्षक नागरिकों पर अपना अधिकार जता सकता है, किन्तु जब नगरी में चारों ओर से आक्रमण हो रहा हो तो वह निरुपाय बन जाता है। ज्योंही प्राण स्थूल शरीर को त्यागने को उद्यत था, तो सूक्ष्म शरीर भी पीड़ा का अनुभव करने लगा।

न शेके सोऽवितुं तत्र पुरुकृच्छ्रोऋवेपथुः ।

गन्तुमैच्छन्ततो वृक्षकोटरादिव सानलात् ॥ १४ ॥

#### शब्दार्थ

न—नहीं; शेके—समर्थ; सः—वह; अवितुम्—रक्षा करने में; तत्र—वहाँ; पुरु—अत्यधिक; कृच्छ्र—कठिनाई; उरु—बड़ी; वेपथुः—पीड़ा; गन्तुम्—बाहर जाने के लिए; ऐच्छत्—इच्छा की; ततः—वहाँ से; वृक्ष—वृक्ष के; कोटरात्—कोटर से; इव—सदृश; स-अनलात्—अग्नि लगे हुए।

जिस प्रकार जंगल में आग लगने पर वृक्ष के कोटर में रहने वाला सर्प उस वृक्ष को छोड़ना चाहता है, उसी प्रकार वह नगर अधीक्षक सर्प भी अग्नि के प्रचण्ड ताप के कारण नगरी छोड़ने के लिए इच्छुक हो उठा।

तात्पर्य : जंगल में आग लगने पर सर्पों के लिए जंगल छोड़ पाना कठिन हो जाता है। अन्य पशु तो अपनी लम्बी टांगों के बल से भग जाते हैं, किन्तु बेचारे सर्प रेंगकर चल सकने के कारण प्रायः अग्नि में जल जाते हैं। अन्तिम अवस्था में शरीर के अन्य अंग उतने प्रभावित नहीं होते जितना कि प्राण।

शिथिलावयवो यर्हि गन्धर्वैर्हृतपौरुषः ।  
यवनैरिभी राजन्नुपरुद्धो रुरोद ह ॥ १५ ॥

#### शब्दार्थ

शिथिल—ढीले; अवयवः—अंग-प्रत्यंग; यर्हि—जब; गन्धर्वैः—गन्धर्वों के द्वारा; हृत—पराजित; पौरुषः—शारीरिक शक्ति; यवनैः—यवनों के द्वारा; अरिभिः—शत्रुओं द्वारा; राजन्—हे राजा प्राचीनबर्हिषत्; उपरुद्धः—रोके जाने पर; रुरोद—जोर से चिल्लाया; ह—वस्तुतः।

गन्धर्वों तथा यवन सैनिकों द्वारा उस सर्प के शरीर के अंग जर्जर कर दिए गए, क्योंकि उन्होंने उसकी शारीरिक शक्ति को परास्त कर दिया था। जब उसने शरीर त्यागना चाहा तो उसके शत्रुओं ने रोक लिया। अपने प्रयास में विफल होने के कारण वह जोर से चीत्कार करने लगा।

तात्पर्य : जीवन की अन्तिम अवस्था में रोग के प्रभाव से शरीर के विभिन्न द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं जिसका कारण है कफ, पित्त और वात का असंतुलन। इससे जीव अपने कष्ट को व्यक्त नहीं कर पाता और उसके चारों ओर खड़े रहने वाले सम्बन्धी मरणासन्न मनुष्य से धुर-धुर की आवाज सुनते हैं। राजा कुलशेखर ने अपने मुकुन्दमाला स्तोत्र में कहा है—

कृष्ण त्वदीयपदपंकजपञ्जरान्तम्  
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः ।  
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः  
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥

“हे कृष्ण! मुझे जल्दी मृत्यु दो जिससे मेरा मनरूपी हंस आपके चरणकमलों की नाल से घिर जाय। अन्यथा मेरी अन्तिम श्वास के समय जब मेरा गला रुद्ध हो जायेगा तो मैं आपके विषय में कैसे सोच पाऊँगा?” हंस को पानी के भीतर डुबकी मारने तथा कमलनालों से घिरे रहने में बड़ा आनन्द आता है। यह फँसना एक प्रकार का विलास है। यदि हम स्वस्थ रहते हुए भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करते हुए मरते हैं, तो यह परम सौभाग्य है। बुढ़ापे में, मृत्यु के समय गला कभी-कभी कफ से सँध जाता है या हवा से अवरुद्ध हो जाता है। ऐसी अवस्था में हरे कृष्ण महामंत्र का उच्चारण नहीं हो पाता। इस तरह मनुष्य कृष्ण को भूल जाता है। निस्सन्देह, जो कृष्णभक्ति में दृढ़ हैं, वे जीवन की किसी भी अवस्था में, विशेष करके जब उन्हें मृत्यु की सूचना मिल जाती है, कृष्ण को नहीं भूल सकते क्योंकि वे हरे कृष्ण मंत्र जपने के अभ्यस्त होते हैं।

दुहितृः पुत्रपौत्रांश्च जामिजामातृपार्षदान् ।

स्वत्वावशिष्टं यत्किञ्चिद्गृहकोशपरिच्छदम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

दुहितृः—पुत्रियों; पुत्र—पुत्रों; पौत्रान्—नातियों के विषय में; च—तथा; जामि—बहुओं; जामातृ—दामादों; पार्षदान्—पार्षदों; स्वत्व—सम्पत्ति; अवशिष्टम्—शेष; यत् किञ्चित्—जो कुछ भी; गृह—घर; कोश—खजाना; परिच्छदम्—घरेलू साज-सामान।

तब राजा पुरञ्जन अपनी पुत्रियों, पुत्रों, पौत्रों, पुत्रवधुओं, जामाता, नौकरों तथा अन्य पार्षदों के साथ-साथ अपने घर, घर के सारे साज-सामान तथा जो कुछ भी सञ्चित धन था, उन सबके विषय में सोचने लगा।

तात्पर्य : प्रायः देखा गया है कि जिन्हें देह से बहुत मोह होता है वे डाक्टर से कुछ काल के लिए जीवन बढ़ा देने के लिए याचना करते हैं। यदि तथाकथित विज्ञानी आक्सीजन तथा अन्य ओषधियों के बल से रोगी की आयु कुछ मिनटों के लिए बढ़ा देते हैं, तो वे इसे महान् सफलता मानते हैं, यद्यपि रोगी को अन्ततः मरना पड़ता है। यही जीवन-संघर्ष कहलाता है। रोगी तथा डाक्टर मृत्यु के समय जीवन की अवधि बढ़ाने के विषय में सोचते हैं, जबकि पहले से शरीर के सभी अवयव प्रायः मृतप्राय हो चुके होते हैं।

अहं ममेति स्वीकृत्य गृहेषु कुमतिर्गृही ।

दध्यौ प्रमदया दीनो विप्रयोग उपस्थिते ॥ १७ ॥

### शब्दार्थ

अहम्—मैं; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; स्वी-कृत्य—स्वीकार करके; गृहेषु—घर में; कु-मतिः—दुर्बुद्धि; गृही—गृहस्थ; दध्यौ—ध्यान दिया; प्रमदया—अपनी पत्नी सहित; दीनः—अत्यन्त निर्धन; विप्रयोगे—जब वियोग; उपस्थिते—आ उपस्थित हुआ।

राजा पुरञ्जन अपने परिवार के प्रति तथा “मैं” और “मेरे” विचार में अत्यधिक आसक्त था। चूँकि वह अपनी पत्नी के प्रति अत्यधिक मोहित था, इसलिए वह पहले से दीन बन चुका था। वियोग के समय वह अत्यन्त दुखी हो गया।

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट है कि मरते समय भौतिक सुख के विचार कहीं नहीं जाते। यह सूचित करता है कि जीवात्मा सूक्ष्म शरीर—मन, बुद्धि तथा अहंकार—द्वारा ले जाया जाता है। अहंकार के कारण जीव अब भी भौतिक सुख भोगना चाहता है और उसको न भोग पाने से वह दुखी हो जाता है। वह अपने अस्तित्व को बढ़ाने के लिए बौद्धिक योजना बनाता है और स्थूल शरीर त्यागने पर भी वह सूक्ष्म शरीर द्वारा दूसरे स्थूल शरीर में ले जाया जाता है। सूक्ष्म शरीर का देहान्तरण इन भौतिक आँखों से नहीं दिखता, अतः जब मनुष्य स्थूल देह छोड़ता है, तो हम सोचते हैं कि वह मर गया। सूक्ष्म शरीर भौतिक सुख की योजनाएँ बनाता है, स्थूल शरीर तो उनको भोगने का साधन मात्र है। इस प्रकार इस स्थूल देह की उपमा पत्नी से दी जा सकती है, क्योंकि पत्नी ही वह साधन है, जो इन्द्रियतृप्ति की सारी सामग्री प्रस्तुत करती है। स्थूल शरीर से दीर्घकालीन संगति के कारण जीव को इससे बिछुड़ते हुए दुख होता है। जीव की मानसिक क्रियाशीलता उसे दूसरा स्थूल शरीर धारण करने के लिए बाध्य करती है।

स्त्री संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है “विस्तार।” स्त्री के माध्यम से ही मनुष्य पुत्र, पुत्रियाँ, पौत्र इत्यादि के रूप में अपना विस्तार करता है। मृत्यु के समय परिवार के सदस्यों के प्रति अनुराग प्रखर हो जाता है। प्रायः यह देखा जाता है कि मृत्यु के निकट आने पर मनुष्य अपने प्रिय पुत्र को बुलाकर उस पर अपनी पत्नी तथा अन्य साज-सामान की रक्षा का भार डाल देता है और कहता है, “मेरे बेटे! मैं जाने को बाध्य हूँ, तुम परिवार की देखभाल करना।” वह अपने गन्तव्य को न जानते हुए भी इस प्रकार कहता है।

लोकान्तरं गतवति मय्यनाथा कुटुम्बिनी ।  
वर्तिष्यते कथं त्वेषा बालकाननुशोचती ॥ १८ ॥

#### शब्दार्थ

लोक-अन्तरम्—अन्य जीवन में; गतवति मयि—मेरे चले जाने पर; अनाथा—पतिविहीन; कुटुम्बिनी—अपने परिवार से घिरी; वर्तिष्यते—रहेगी; कथम्—कैसे; तु—तब; एषा—यह स्त्री; बालकान्—बच्चों को; अनुशोचती—विलाप करती हुई।

राजा पुरञ्जन अत्यन्त चिन्तित होकर सोचने लगा, “हाय! मेरी पत्नी इतने सारे बच्चों से परेशान होगी। जब मैं यह शरीर छोड़ दूँगा तो यह किस प्रकार परिवार के इन सभी सदस्यों का पालन करेगी? हाय! वह परिवार पालन के विचार से अत्यधिक कष्ट पाएगी।”

तात्पर्य : अपनी पत्नी के विषय में उसके इतने सारे विचार यह सूचित करते हैं कि राजा स्त्री के विचार में कितना निमग्न था। सामान्यतः पतिपरायण स्त्री अत्यन्त आज्ञाकारिणी पत्नी होती है। इससे पति अपनी पत्नी के प्रति आकृष्ट होता है और मृत्यु के समय वह अपनी पत्नी के विषय में बहुत अधिक सोचता है। यह अत्यन्त घातक स्थिति है, जैसाकि राजा पुरञ्जन के जीवन से स्पष्ट है। यदि मृत्यु के समय कोई कृष्ण के बजाय अपनी स्त्री के विषय में सोचता है, तो वह निश्चय ही भगवान् के धाम वापस नहीं जा सकता, अपितु उसे स्त्री का शरीर धारण करके भौतिक जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ करना पड़ता है।

न मय्यनाशिते भुङ्क्ते नास्नाते स्नाति मत्परा ।  
मयि रुष्टे सुसन्नस्ता भर्त्सिते यतवाग्भयात् ॥ १९ ॥

#### शब्दार्थ

न—कभी नहीं; मयि—जब तक मैं; अनाशिते—खा नहीं लेता था; भुङ्क्ते—वह खाती थी; न—नहीं; अस्नाते—स्नान नहीं कर लेता था; स्नाति—नहाती थी; मत्-परा—मेरे प्रति अनुरक्त; मयि—जब मैं; रुष्टे—नाराज होता था; सु-सन्नस्ता—अत्यन्त डरी रहती थी; भर्त्सिते—जब मैं डाँटता फटकारता था; यत-वाक्—संयमित वाणी; भयात्—डर से।

राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी के साथ अपने पुराने व्यवहारों को सोचने लगा। उसे याद आया कि उसकी पत्नी तब तक भोजन नहीं करती थी, जब तक वह स्वयं खा नहीं चुकता था; वह तब तक नहीं नहाती थी जब तक वह नहीं नहा लेता था और वह उस पर सदा इतनी अधिक अनुरक्त थी कि यदि वह कभी झिड़क देता था और उस पर नाराज हो जाता था, तो वह मौन रहकर उसके दुर्व्यवहार को सह लेती थी।

तात्पर्य : पत्नी अपने पति के प्रति सदैव विनम्र रहती है। विनम्रता, सदाचार तथा सेवाभाव पत्नी के ऐसे गुण हैं जिससे पति उसके प्रति अत्यन्त भावुक रहता है। पारिवारिक जीवन में पति का पत्नी पर

अनुरक्त रहना हितकर होता है, किन्तु आध्यात्मिक विकास के लिए यह अधिक उपयुक्त नहीं होता। अतः घर-घर में कृष्णभक्ति की नींव पड़नी चाहिए। यदि कृष्णभक्ति में पति तथा पत्नी एक दूसरे पर अनुरक्त हैं, तो वे दोनों लाभ उठा सकते हैं, क्योंकि कृष्ण ही उनके अस्तित्व का केन्द्रबिन्दु है। अन्यथा यदि पति अपनी पत्नी के प्रति अधिक अनुरक्त रहता है, तो अगले जन्म में वह स्त्री बनता है। इसी प्रकार पति पर अत्यधिक अनुरक्त होने से स्त्री को अगले जन्म में पुरुष बनना होता है। निस्सन्देह, पुरुष बनना स्त्री के हित में है, किन्तु पुरुष के लिए स्त्री बनना तनिक भी लाभप्रद नहीं है।

प्रबोधयति माविज्ञं व्युषिते शोककर्षिता ।  
वर्त्मैतद्गृहमेधीयं वीरसूरपि नेष्यति ॥ २० ॥

#### शब्दार्थ

प्रबोधयति—अच्छी सलाह देती है; मा—मुझको; अविज्ञम्—मूर्ख; व्युषिते—मेरे बाहर जाने पर; शोक—शोक से; कर्षिता—दुख से सूखी हुई; वर्त्म—रास्ता; एतत्—यह; गृह-मेधीयम्—गृहस्थी के कार्यों का; वीर-सूः—वीरों की जननी; अपि—यद्यपि; नेष्यति—क्या कर सकेगी।

राजा पुरञ्जन सोचता रहा कि उसके मोहग्रस्त होने पर किस तरह उसकी पत्नी उसे अच्छी सलाह देती थी और उसके घर से बाहर चले जाने पर वह कितनी दुखी हो जाती थी। यद्यपि वह अनेक पुत्रों एवं वीरों की माता थी तो भी राजा को डर था कि वह गृहस्थी का भार नहीं ढो सकेगी।

**तात्पर्य :** मृत्यु के समय राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी के विषय में सोच रहा था। यह दूषित चेतना कहलाती है। जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१५.७) में बतलाया है—

*ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।*

*मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥*

“इस बद्ध जगत में जितने जीव हैं, वे मेरे शाश्वत अंश हैं। बद्धजीवन के कारण वे मन समेत छहों इन्द्रियों द्वारा अत्यधिक श्रम में लगे हुए हैं।”

जीव आखिर परमेश्वर श्रीकृष्ण का ही अंश है। गुणात्मक रूप से कृष्ण तथा जीव की स्वाभाविक स्थितियाँ एक सी हैं; अन्तर केवल इतना ही है कि जीवात्मा सदैव परमात्मा का सूक्ष्म कण है। *ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।* इस बद्ध जीवन के संसार में परमात्मा का अंश, यह जीवात्मा, अपने दूषित मन तथा चेतना के कारण संघर्ष में लगा रहता है। परमेश्वर का अंश होने से यह आशा की



जाती है कि जीवात्मा श्रीकृष्ण के विषय में सोचेगा, किन्तु यहाँ पर हम देखते हैं कि जीवस्वरूप राजा पुरञ्जन केवल स्त्री के विषय में सोच रहा है। किसी इन्द्रिय विषय में ऐसी मानसिक व्यस्तता के कारण ही जीव को इस भौतिक संसार में जीवन-संघर्ष करना पड़ता है। चूँकि राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी के विषय में सोचता है, अतः इस जगत में उसका जीवन-संघर्ष उसकी मृत्यु के साथ समाप्त नहीं होगा। जैसाकि अगले श्लोकों से विदित होगा, उसे अपनी पत्नी के ही विचार में लीन रहने के कारण अगले जन्म में स्त्री का शरीर धारण करना पड़ा। इस प्रकार सामाजिक, राजनीतिक, छद्मधार्मिक, राष्ट्रीय तथा जातीय भावों में मन को लीन रखना ही बन्धन का कारण है। इस बन्धन से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को अपने जीवनकाल में अपने कार्यकलापों को बदलना पड़ता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (३.९) में हुई है— *यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।* यदि हम इसी जीवन में अपनी चेतना नहीं बदलते तो जो कुछ भी हम सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय कल्याण के नाम पर कार्य करते हैं वह सब हमारे बन्धन का कारण बनता है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें आगे भी भौतिक बद्धजीवन बिताना पड़ता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.७) में कहा गया है— *मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।* जब मन तथा इन्द्रियाँ भौतिक कार्यों में लगी रहती हैं, तो जीवन-संघर्ष करना पड़ता है और सुख के लिए संघर्ष करना पड़ता है। प्रत्येक जीवन में मनुष्य सुखी रहने के लिए संघर्ष करता है। वास्तव में इस संसार में कोई भी सुखी नहीं है किन्तु संघर्ष से सुख की झूठी प्रतीति होती है। मनुष्य को कठिन श्रम करना पड़ता है और जब उसे परिश्रम का फल मिलता है, तो वह स्वयं को सुखी अनुभव करता है। इस संसार में कोई यह यहीं जानता कि वास्तविक सुख क्या है। *सुखं आत्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् (भगवद्गीता ६.२१)।* वास्तविक सुख का बोध तो दिव्य इन्द्रियों द्वारा होता है। किन्तु जब तक मनुष्य शुद्ध नहीं होता, दिव्य इन्द्रियाँ प्रकट नहीं होतीं, अतः इन्द्रियों को शुद्ध करने के लिए मनुष्य को कृष्णभक्ति करनी चाहिए और इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए। तभी वास्तविक सुख मिलेगा तथा मुक्ति प्राप्त होगी। *भगवद्गीता* (१५.८) में कहा गया है—

*शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।*

*गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥*

“जिस प्रकार वायु गन्ध को वहन करती है उसी प्रकार जीव इस संसार में जीवन सम्बन्धी विविध

विचारों को एक शरीर से दूसरे शरीर में ढोता है।” यदि वायु किसी गुलाब के बगीचे से होकर बहती है, तो वह गुलाब की सुगन्ध ग्रहण करती है और यदि किसी गन्दे स्थान से होकर बहती है, तो अपने साथ दुर्गन्ध ले जाती है। इसी प्रकार जीवस्वरूप राजा पुरञ्जन अपनी प्राण-वायु को अपनी पत्नी पर प्रवाहित करता है, इसीलिए उसे अगले जीवन में स्त्री का शरीर धारण करना पड़ता है।

कथं नु दारका दीना दारकीर्वापरायणाः ।  
वर्तिष्यन्ते मयि गते भिन्ननाव इवोदधौ ॥ २१ ॥

#### शब्दार्थ

कथम्—कैसे; नु—वस्तुतः; दारकाः—पुत्र; दीनाः—बेचारे, अनाथ; दारकीः—पुत्रियों; वा—अथवा; अपरायणाः—जिनका कोई आश्रय नहीं है; वर्तिष्यन्ते—रहेंगे; मयि—जब मैं; गते—इस संसार से चला जाऊँगा; भिन्न—विदीर्ण, टूटी हुई; नावः—नाव; इव—सदृश; उदधौ—सागर में।

राजा पुरञ्जन आगे भी चिन्तित रहने लगा: “जब मैं इस संसार से चला जाऊँगा तो मेरे ऊपर पूर्णतः आश्रित पुत्र तथा पुत्रियाँ किस प्रकार अपना जीवन निर्वाह करेंगी? उनकी स्थिति जहाज में चढ़े हुए उन यात्रियों के समान है जिनका जहाज सागर के बीच में ही टूट जाता है।”

**तात्पर्य :** मृत्यु के समय प्रत्येक जीव को चिन्ता होती है कि उसकी पत्नी तथा पुत्रों का क्या होगा। इसी प्रकार एक राजनीतिज्ञ भी सोचता है कि उसके मरने पर देश अथवा उसके राजनीतिक दल का क्या होगा। जब तक कोई पूर्णतः कृष्णभक्त नहीं होता, उसे अपनी विशेष चेतना के अनुरूप ही अगले जन्म में शरीर धारण करना होता है। चूँकि पुरञ्जन केवल अपनी पत्नी तथा बच्चों के विषय में सोचता है और अपनी पत्नी के ही विचार में अधिक मग्न रहता है, इसलिए उसे अगले जीवन में स्त्री का शरीर धारण करना होगा। इसी प्रकार कोई राजनीतिज्ञ या राष्ट्रप्रेमी जो जन्म से ही किसी भूभाग (देश) से विशेष रूप से अनुरक्त रहता है, वह अपना राजनीतिक जीवन समाप्त करने के बाद अगले जन्म में उसी देश में पुनः जन्म लेगा। अपने जीवनकाल में मनुष्य जो कार्य करता है उससे भी अगला जन्म प्रभावित होगा। कभी-कभी राजनेता अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए अनेक कुकृत्य करते हैं। विपक्षी दल के किसी व्यक्ति की हत्या करा देना किसी राजनेता के लिए कोई बड़ी बात नहीं होती। यद्यपि ऐसे राजनेता को उसके अपने तथाकथित देश में जन्म लेने दिया जाता है, किन्तु उसने अपने पूर्व जीवन में जो पापकर्म किये हैं उनके लिए कष्ट भोगना ही पड़ता है।

देहान्तर का यह विज्ञान आधुनिक विज्ञानियों के लिए पूरी तरह से अज्ञात है। ये तथाकथित

विज्ञानी इन वस्तुओं के विषय में तनिक भी चिन्ता नहीं करना चाहते, क्योंकि यदि वे इस सूक्ष्म विषय पर और जीवन की समस्याओं पर विचार करें तो वे देखेंगे कि उनका भविष्य अंधकारमय है। इसीलिए वे भविष्य के विषय में विचार करने से कतराते हैं और सामाजिक, राजनीतिक तथा राष्ट्रीय आवश्यकता के नाम पर नाना प्रकार के पापकर्म करते रहते हैं।

एवं कृपणया बुद्ध्या शोचन्तमतदर्हणम् ।  
ग्रहीतुं कृतधीरेनं भयनामाभ्यपद्यत ॥ २२ ॥

### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कृपणया—दीन; बुद्ध्या—बुद्धि से; शोचन्तम्—पछताते हुए; अ-तत्-अर्हणम्—जिस पर उसे नहीं पछताना चाहिए था; ग्रहीतुम्—बन्दी बनाने के लिए; कृत-धीः—दृढ़संकल्प यवनराज; एनम्—उसको; भय-नामा—भय नामक; अभ्यपद्यत—तुरन्त आ गया।

यद्यपि राजा पुरञ्जन को अपनी पत्नी तथा बच्चों के भाग्य के विषय में पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए था फिर भी उसने अपनी दीन बुद्धि के कारण ऐसा किया। उसी समय, भय नामक यवनराज उसे बन्दी करने के लिए तुरन्त निकट आ धमका।

**तात्पर्य :** मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि प्रत्येक जीव अपने कर्मों तथा कर्म फलों के लिए उत्तरदायी है। जब तक जीव छोटे बच्चे या अबोध बालक के रूप में रहता है तब तक माता-पिता का यह कर्तव्य होता है कि वे उसे जीवन के मूल्यों की सही जानकारी दें; जब वह बड़ा हो जाये तो उसे जीवन के सारे कार्य करने के लिए छोड़ देना चाहिए। माता-पिता मृत्यु के पश्चात् अपनी सन्तान की सहायता नहीं कर सकते। पिता अपनी सन्तानों की तुरन्त सहायता के लिए कुछ सम्पत्ति जोड़ सकता है, किन्तु उसे इन विचारों में डूबा नहीं रहना चाहिए कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके परिवार का भरण-पोषण कैसे होगा। बद्धजीव का यही रोग है। वह न केवल अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए पापकर्म करता है, वरन् मरने के पश्चात् अपनी सन्तान के लिए इतना धन छोड़ जाना चाहता है कि वे भी इसे इन्द्रियतृप्ति में अच्छी तरह खर्च कर सकें।

जो भी हो, प्रत्येक प्राणी मृत्यु से भयभीत रहता है, इसीलिए मृत्यु को भय कहा गया है। यद्यपि राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी तथा सन्तान के विषय में सोचने में लगा हुआ था, किन्तु मृत्यु ने इसकी प्रतीक्षा नहीं की। मृत्यु किसी मनुष्य की प्रतीक्षा नहीं करती, वह अपना कार्य तुरन्त निपटाती है। चूँकि मृत्यु बिना किसी हिचक के जीव को अपने साथ ले जाती है, अतः नास्तिकों के लिए यह चरम ईश्वर-

साक्षात्कार है। जो ईश-चेतना को भुलाकर मात्र अपने देश, समाज और रिश्तेदारों के बारे में ही सोचते हुए जीवन बर्बाद करते रहते हैं। इस श्लोक में *अतद्-अर्हणम्* अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि इसका अर्थ है कि मनुष्य को अपने परिवार के सदस्यों, देशवासियों तथा समाज के कल्याणकार्यों में अत्यधिक व्यस्त नहीं होना चाहिए। इनसे मनुष्य का आध्यात्मिक विकास नहीं होता। दुर्भाग्यवश आज के समाज में तथाकथित शिक्षित व्यक्तियों को आध्यात्मिक उन्नति के विषय में कोई ज्ञान नहीं है। यद्यपि मनुष्य जीवन पाकर उन्हें आध्यात्मिक उन्नति करने का अवसर मिलता है, किन्तु वे कृपण के कृपण बने रहते हैं। वे अपने सम्बन्धियों, देशवासियों, समाज इत्यादि के विषय में ही सोच-सोचकर अपने जीवन को अनुचित ढंग से उपयोग में लाकर इसे बर्बाद करते रहते हैं। मनुष्य का वास्तविक कर्तव्य है कि वह मृत्यु पर विजय पाना सीखे। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.९) में मृत्यु को जीतने की विधि बताई है—

*जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।*

*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥*

“हे अर्जुन! जो मेरे प्राकट्य तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को भलीभाँति जानता है, वह शरीर त्यागने के बाद इस जगत में पुनः जन्म नहीं लेता, वरन् वह मेरे शाश्वत धाम को प्राप्त होता है।”

जो पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित है, वह इस शरीर को त्यागने के बाद दूसरा शरीर धारण नहीं करता, वरन् भगवान् के धाम वापस जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को यह सिद्धि प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। दुर्भाग्यवश ऐसा न करके लोग समाज, मित्रता, प्यार तथा सम्बन्धियों के विचार में मग्न रहते हैं। किन्तु यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन सारे विश्व के लोगों को मृत्यु को जीतने की शिक्षा दे रहा है। *हरिं बिना न सृतिं तरन्ति।* भगवान् की शरण ग्रहण किये बिना कोई मृत्यु पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता।

**पशुवद्यवनैरेष नीयमानः स्वकं क्षयम् ।**

**अन्वद्रवन्ननुपथाः शोचन्तो भृशमातुराः ॥ २३ ॥**

**शब्दार्थ**

पशु-वत्—पशु के समान; यवनैः—यवनों के द्वारा; एषः—यह, पुरञ्जन; नीयमानः—बन्दी बनाकर ले जाया गया; स्वकम्—अपने; क्षयम्—घर; अन्वद्रवन्—पीछे-पीछे; अनुपथाः—उसके सेवक; शोचन्तः—विलाप करते; भृशम्—अत्यधिक; आतुराः—अत्यन्त दुखी।

जब यवनगण राजा पुरञ्जन को पशु की भाँति बाँधकर उसे अपने स्थान को ले जाने लगे तो

राजा के अनुचर अत्यन्त शोकाकुल हो उठे। उन्हें भी विलाप करते हुए राजा के साथ-साथ जाना पड़ा।

**तात्पर्य :** जब यमराज तथा उसके दूत जीव को न्याय के स्थल ले जाते हैं, तो प्राण, इच्छाएँ आदि भी जीव के अनुचर के रूप में उसके साथ जाती हैं। इसकी पुष्टि वेदों में हुई है। जब जीव यमराज द्वारा बन्दी बना कर ले जाया जाता है ( *तम् उत्क्रामन्तम्* ) तो प्राण भी उसके साथ चला जाता है ( *प्राणोऽनूत्क्रामति* ) और जब प्राण निकल जाता है ( *प्राणम् अनूत्क्रामन्तम्* ) तो सारी इन्द्रियाँ ( *सर्वे प्राणाः* ) भी साथ चली जाती हैं ( *अनूत्क्रामन्ति* )। जब जीवात्मा तथा प्राण निकल जाते हैं, तो पंचतत्त्वों से उत्पन्न पदार्थ का पिंड पीछे छूटा रह जाता है। तब जीवात्मा न्यायालय में पहुँचता है, जहाँ यमराज तय करता है कि उसे कैसा शरीर मिले। आधुनिक विज्ञानी इस विधि से अपरिचित हैं। प्रत्येक जीव इस जन्म में अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है और मृत्यु के बाद उसे यमराज के दरबार में ले जाया जाता है जहाँ वह यह तय करता है कि उसे किस तरह का अगला शरीर मिले। यद्यपि स्थूल शरीर छूट जाता है, किन्तु जीवात्मा तथा उसकी इच्छाएँ एवं उसके विगत कर्मों के फल उसके साथ-साथ जाते हैं। यह तो यमराज पर निर्भर करता है कि पिछले कर्मों के अनुसार वह उसे कैसा शरीर प्रदान करे।

पुरीं विहायोपगत उपरुद्धो भुजङ्गमः ।

यदा तमेवानु पुरी विशीर्णा प्रकृतिं गता ॥ २४ ॥

#### शब्दार्थ

पुरीम्—नगरी को; विहाय—छोड़कर; उपगतः—चला गया; उपरुद्धः—बन्दी; भुजङ्गमः—सर्प; यदा—जब; तम्—उसको; एव—निश्चय ही; अनु—पीछे-पीछे; पुरी—नगरी; विशीर्णा—ध्वस्त, तहस-नहस; प्रकृतिम्—पदार्थ में; गता—परिणत हो गयी।

वह सर्प भी, जिसे यवनराज के सैनिकों ने बन्दी बनाकर पहले ही नगरी के बाहर कर दिया था, अन्यो के साथ अपने स्वामी के पीछे-पीछे चलपड़ा। ज्योंही इन सबों ने नगरी को छोड़ दिया त्योंही वह नगरी तहस-नहस ( ध्वस्त ) होकर धूल में मिल गई।

**तात्पर्य :** जब जीव को बन्दी बना लिया जाता है, तो उसके सारे अनुचर—प्राण, इन्द्रियाँ तथा विषय—पदार्थ के पिंड अर्थात् शरीर का परित्याग कर देते हैं। जब जीवात्मा तथा उसके साथी प्रयाण कर जाते हैं, तो शरीर कार्य नहीं करता। वह अपने मूलभूत तत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, गगन तथा

समीर—में परिणत हो जाता है। जब शत्रु किसी नगरी पर आक्रमण करते हैं और उसके वासी जब उसे छोड़कर बाहर चले जाते हैं, तो वे उस नगरी पर बमबारी करके उसे तहस-नहस कर देते हैं। जब हम कहते हैं, “तुम धूल हो और धूल में मिल जाओगे,” तो हमारा प्रयोजन शरीर से ही होता है। जब नगरी पर शत्रु का आक्रमण होता है और उस पर बमबारी हो जाती है, तो नागरिक सामान्यतः उसे छोड़कर चले जाते हैं और उस नगरी का अस्तित्व मिट जाता है।

मूर्ख व्यक्ति ही नगरी के वासियों की परवाह किये बिना नगरी को सुधारने का प्रयास करता है। इसी प्रकार जीव भी, जिसे आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त नहीं है बाह्य शरीर की रक्षा करता है, उसे यह पता ही नहीं रहता कि मुख्य कारण तो शरीर के भीतर स्थित आत्मा है। जब मनुष्य को आध्यात्मिक ज्ञान होता है, तो आत्मा निरन्तर देहान्तरण से बच जाता है। जो लोग अपने शरीर के प्रति अधिक अनुरक्त हैं, उन्हें *श्रीमद्भागवत* गाय तथा गधे के समान मानती है ( *स एव गो-खरः* )। गाय अत्यन्त अबोध पशु है और गधा भारढोने वाला जानवर है। जो देहात्मबुद्धि के कारण श्रम करता रहता है, वह गधे के तुल्य है और अपने स्वार्थ को नहीं पहचानता। कहा भी गया है ( *भागवत १०.८४.१३* )—

*यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके*

*स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।*

*यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-*

*ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥*

“जो तीन तत्त्वों से बने इस शरीर को आत्मा मानता है, जो शरीर के उपजातों को अपना परिजन मानता है, जो अपनी जन्मभूमि को पूज्य मानता है और जो तीर्थों की यात्रा में दिव्य ज्ञानियों से मिलने के लिए नहीं, अपितु केवल स्नान करने के लिए जाता है, उसे गधा या गाय समझना चाहिए।”

कृष्णभक्ति से विहीन मानव-सभ्यता केवल निम्न पशुओं की सभ्यता है। हो सकता है ऐसी सभ्यता मृतशरीर (शव) का अध्ययन करे और मस्तिष्क या हृदय पर विचार करे, किन्तु शरीर का कोई भी भाग तब तक महत्त्वपूर्ण नहीं है जब तक उसमें आत्मा विद्यमान न हो। गायों तथा गधों की आधुनिक सभ्यता में विज्ञानीजन मृत पुरुष के मस्तिष्क या हृदय की उपयोगिता की खोज करते हैं।

विकृष्यमाणः प्रसभं यवनेन बलीयसा ।

नाविन्दत्तमसाविष्टः सखायं सुहृदं पुरः ॥ २५ ॥

### शब्दार्थ

विकृष्यमाणः—खींचे जाने पर; प्रसभम्—बलपूर्वक; यवनेन—यवन के द्वारा; बलीयसा—अत्यन्त शक्तिशाली; न अविन्दत्—स्मरण नहीं कर सकता; तमसा—तमोगुण से; आविष्टः—आच्छादित होने से; सखायम्—अपने मित्र को; सुहृदम्—शुभैषी; पुरः—प्रारम्भ से।

जब राजा पुरञ्जन शक्तिशाली यवन द्वारा बलपूर्वक घसीटा जा रहा था, तब भी अपनी निरी मूर्खता के कारण वह अपने मित्र तथा हितैषी परमात्मा का स्मरण नहीं कर सका।

तात्पर्य : भगवद्गीता (५.२९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

यदि मनुष्य केवल तीन बातें जानता है—कि भगवान् श्रीकृष्ण ही परम भोक्ता हैं, वे ही प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं और वे प्रत्येक जीव के परम मित्र हैं—तो वह पूर्ण कृष्णचेतना में रह सकता है और सुखी तथा सन्तुष्ट रह सकता है। यदि मनुष्य इसे नहीं जानता और देहात्मबुद्धि से कार्य करता है, तो वह प्रकृति द्वारा प्रदत्त विपत्तियों द्वारा सदैव सताया जाता है। वास्तव में परमेश्वर सबों के निकट बैठा हुआ है। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ( भगवद्गीता १८.६१)। जीवात्मा तथा परमात्मा एक ही वृक्ष में पास-पास बैठे हुए हैं, किन्तु मूर्ख जीवात्मा प्राकृतिक नियमों द्वारा प्रताड़ित होने पर भी अपनी रक्षा के लिए भगवान् की ओर दृष्टि नहीं डालता। वह अपने को प्रकृति के कठोर से कठोर नियम का सामना करने में समर्थ मानता है। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। जीवात्मा को परमेश्वर की ओर उन्मुख होना पड़ेगा और उनकी शरण लेनी होगी। तभी वह यवन या यमराज के शक्तिशाली आक्रमण से बचा रह सकता है।

इस श्लोक का सखायम् (मित्र) शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ईश्वर सदैव जीवात्मा के निकट स्थित है। परमेश्वर को सुहृदम् (हितैषी) भी कहा गया है। परमेश्वर माता अथवा पिता की भाँति सदैव हितैषी है। भले ही पुत्र कितने अपराध क्यों न करे, माता-पिता सदैव उसके हितैषी बने रहते हैं। इसी प्रकार अपने समस्त पापों और भगवान् की इच्छाओं का उल्लंघन करने के बावजूद यदि हम अपने को उनके प्रति समर्पित कर देते हैं, तो तुरन्त भौतिक प्रकृति की कठिनाइयों से वे हमारी रक्षा करते हैं। इसकी पुष्टि भगवद्गीता में हुई है ( मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते )। दुर्भाग्यवश कुसंगति तथा

इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण हम अपने परम मित्र परमेश्वर को स्मरण नहीं कर पाते।

तं यज्ञपशवोऽनेन संज्ञप्ता येऽदयालुना ।

कुठारैश्चिच्छिदुः क्रुद्धाः स्मरन्तोऽमीवमस्य तत् ॥ २६ ॥

### शब्दार्थ

तम्—उसको; यज्ञ-पशवः—यज्ञ में बलि दिये गये पशु; अनेन—उसके द्वारा; संज्ञप्ताः—मारे गये; ये—जो; अदयालुना—अत्यन्त निर्दय द्वारा; कुठारैः—फरसे से; चिच्छिदुः—खण्ड खण्ड; क्रुद्धाः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; स्मरन्तः—याद करते हुए; अमीवम्—पापकर्म; अस्य—उसके; तत्—वह।

उस घोर निर्दयी राजा पुरञ्जन ने विविध यज्ञों में अनेक पशुओं का वध किया था। अब वे सारे पशु इस अवसर का लाभ उठाकर उसे अपने सींगों से बेधने लगे। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसे फरसों से टुकड़े-टुकड़े करके काटा जा रहा है।

**तात्पर्य :** जो लोग धर्म के नाम पर या भोजन के लिए पशुओं का वध करने के लिए लालायित रहते हैं, उन्हें मृत्यु के पश्चात् ऐसी ही यातना सहने के लिए तैयार रहना चाहिए। *मांस* शब्द संकेत देता है कि जिन पशुओं को हम मारते हैं उन्हें अवसर प्राप्त होगा कि वे हमें मारें। यद्यपि वास्तव में कोई जीव मारा नहीं जाता, किन्तु मृत्यु के पश्चात् पशुओं के सींगों से बेधे जाने की पीड़ा का अनुभव होगा। इसे न जानने के कारण ही दुर्बुद्धि लोग निरीह पशुओं का वध करते जाते हैं। तथाकथित मानव सभ्यता ने धर्म या भोजन के नाम पर पशुओं के वध के लिए अनेक कसाईघर खोल रखे हैं। जो थोड़े धार्मिक हैं, वे मन्दिरों, मस्जिदों या यहूदी उपासनागृहों में पशुओं की बलि देते हैं और जो नीच तथा अधम हैं, वे कसाईघर चलाते हैं। जिस प्रकार मानव समाज में यह नियम है कि प्राण के बदले प्राण लिया जाये, उसी प्रकार ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार एक जीव का दूसरे के ऊपर अपना अधिकार जताना वर्जित है। परम पिता के अनुसार प्रत्येक प्राणी को जीवित रहने की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। भगवान् सदा से पशु-वध का चाहे धर्म के लिए अथवा भोजन के लिए तिरस्कार करते आये हैं। *भगवद्गीता* (१६.१९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

*तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।*

*क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥*

“जो लोग ईर्ष्यालु और दुष्ट हैं, वे मनुष्यों में अधम हैं और वे मेरे द्वारा विभिन्न आसुरी योनियों में



इस भवसागर में फेंक दिये जाते हैं।” पशु-हत्यारों ( द्विषतः ) को, जो अन्य जीवों तथा ईश्वर से द्वेष रखते हैं, अंधकार में डाल दिया जाता है। वे जीवन के उद्देश्य को कभी नहीं समझ पाते। इसकी व्याख्या आगे के श्लोकों में की गई है।

अनन्तपारे तमसि मग्नो नष्टस्मृतिः समाः ।  
शाश्वतीरनुभूयार्तिं प्रमदासङ्गदूषितः ॥ २७ ॥

#### शब्दार्थ

अनन्त-पारे—अपार; तमसि—संसार के अंधकार में; मग्नः—डूबा हुआ; नष्ट-स्मृतिः—समस्त बुद्धि से रहित; समाः—अनेक वर्षों तक; शाश्वतीः—निरन्तर; अनुभूय—अनुभव करके; आर्तिम्—तीनों ताप; प्रमदा—स्त्री के; सङ्ग—संगति से; दूषितः—मलिन।

स्त्रियों की दूषित संगति के कारण जीवरूप राजा पुरञ्जन निरन्तर संसार के समस्त कष्टों को सहता है और अनेकानेक वर्षों तक समस्त प्रकार की स्मृति से शून्य होकर भौतिक जीवन के अंधकार क्षेत्र में पड़ा रहता है।

तात्पर्य : यह भौतिक संसार का वर्णन है। इस भौतिक संसार का अनुभव तब होता है जब मनुष्य श्रीकृष्ण के दास रूप में अपनी वास्तविक सत्ता को भूलकर ( नष्ट स्मृतिः ) स्त्री के प्रति आसक्त रहता है। इस प्रकार एक-एक करके अनेक जन्मों तक वह इस संसार के तीनों तापों को सदैव सहता रहता है। मानव सभ्यता को अविद्या के अंधकार से बचाने के लिए ही कृष्णभावनामृत-आन्दोलन चालू किया गया था। इसका मूल उद्देश्य विस्मृत जीवात्मा को प्रबोधित करना और उसे मूल कृष्णचेतना की याद दिलाना है। इस प्रकार जीवात्मा अविद्या के संकट तथा देहान्तरण से बच सकता है। जैसाकि श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने गाया है—

अनादि करम-फले, पडिऽ भवार्णव-जले,

तरिबारे ना देखि उपाय

ए विषय-हलाहले, दिवा-निशि हिया ज्वले

मन कभु सुख नाहि पाय

“मैं अपने पूर्वकर्मों के कारण अविद्या के समुद्र में गिर गया हूँ। मैं इस विषतुल्य अपार सागर से निकलने का कोई साधन नहीं ढूँढ पा रहा। हम इन्द्रियसुख द्वारा सुखी रहने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वह तथाकथित सुख उस भोजन के तुल्य है, जो अत्यन्त गर्म होने के कारण हृदय में पीड़ा पहुँचाता है।

मुझे अहर्निश जलन का अनुभव होता रहता है और मेरे मन को सन्तोष नहीं मिल पाता।”

यह संसार सदैव चिन्ताओं से पूर्ण है। लोग चिन्ता को कम करने के अनेक उपाय ढूँढ रहे हैं, किन्तु वे सही पथ-प्रदर्शन न पाकर मद्यपान तथा यौनाचार के द्वारा भौतिक चिन्ता को भूलने का प्रयास करते रहते हैं। वे मूर्ख यह नहीं जान पाते कि मद्यपान तथा संभोग द्वारा चिन्ता से बचने के प्रयत्न में वे अपने भौतिक जीवन की अवधि बढ़ाते जाते हैं। इस प्रकार से भौतिक चिन्ता से बच पाना कठिन है।

*प्रमदासङ्गदूषितः* शब्द बताते हैं कि अन्य कल्मष को यदि छोड़ दें तो केवल स्त्री के प्रति आसक्त रहना ही मनुष्य की दशा को दयनीय बनाने के लिए काफी है। इसीलिए वैदिक सभ्यता में स्त्रियों का सङ्ग त्यागने के लिए प्रारम्भ से शिक्षा दी जाती है। जीवन की पहली अवस्था ब्रह्मचारी की है, दूसरी अवस्था गृहस्थ की, तीसरी वानप्रस्थ की और चौथी संन्यास की। ये सारी अवस्थाएँ इसीलिए बनाई गई हैं, जिससे मनुष्य अपने को स्त्री-संगति से अपने को अलग कर सके।

तामेव मनसा गृह्णन्बभूव प्रमदोत्तमा ।

अनन्तरं विदर्भस्य राजसिंहस्य वेश्मनि ॥ २८ ॥

#### शब्दार्थ

ताम्—उसके; एव—निश्चय ही; मनसा—मन से; गृह्णन्—स्वीकार करते हुए; बभूव—हो गया; प्रमदा—स्त्री; उत्तमा—कुलीन; अनन्तरम्—मृत्यु के पश्चात्; विदर्भस्य—विदर्भ के; राज-सिंहस्य—अत्यन्त शक्तिशाली राजा के; वेश्मनि—घर में।

चूँकि राजा पुरञ्जन ने अपनी पत्नी का स्मरण करते हुए अपने शरीर का त्याग किया था, अतः वह अगले जन्म में अच्छे कुल की एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री बनी। उसने राजा विदर्भ के घर में राजा की कन्या रूप में अगला जन्म लिया।

**तात्पर्य :** चूँकि राजा पुरञ्जन अपनी मृत्यु के समय अपनी पत्नी का स्मरण कर रहा था, इसलिए उसे अगले जन्म में स्त्री का शरीर प्राप्त हुआ। *भगवद्गीता* के निम्न श्लोक से (८.६) इसकी पुष्टि होती है—

*यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।*

*तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥*

“मनुष्य शरीर त्यागने समय जिस अवस्था का स्मरण करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त करता है।”

जब कोई जीव किसी विशेष बात के विषय में सोचने का आदी हो जाता है या किसी विचार में

मग्न रहता है, तो मृत्यु के समय वह उसके विषय में अवश्य सोचता है। मृत्यु के समय वह जागृतावस्था में, स्वप्न में या सुषुप्तावस्था में जो कुछ देखे रहता है उसका स्मरण करता है। परमेश्वर की संगति छूटने के बाद जीव एक देह से दूसरे में प्रकृति के नियमानुसार तब तक देहान्तर करता रहता है जब तक उसे मनुष्य की देह प्राप्त नहीं हो जाती। यदि वह भौतिक विचारों में मग्न रहता है और आध्यात्मिक जीवन से अपरिचित रहता है तथा भगवान् गोविन्द की शरण ग्रहण नहीं करता जिनके हाथ में जन्म और मृत्यु की समस्याओं का समाधान है, तो वह अगले जन्म में स्त्री बनता है, विशेषकर यदि वह मृत्यु के समय अपनी पत्नी का स्मरण करता है। *श्रीमद्भागवत* (३.३१.१) में कहा गया है—  
*कर्मणा दैवनेत्रेण।* जीव पुण्य तथा पाप दोनों करता है। इन सबका लेखा-जोखा करने के बाद उसके वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा जीव को नया शरीर मिलता है। यद्यपि राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्त था, किन्तु तो भी उसने अनेक पुण्यकर्म किये थे। फलस्वरूप यद्यपि उसने स्त्री का स्वरूप प्राप्त किया, किन्तु उसे शक्तिशाली राजा की कन्या बनने का अवसर प्रदान किया गया। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* से (६.४१) होती है—

*प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।*

*शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥*

“असफल योगी अनेकानेक वर्षों तक पुण्यात्माओं के लोक में सुख भोगकर किसी पुण्य परिवार अथवा धनवान परिवार में जन्म लेता है।”

यदि कोई मनुष्य सकाम कर्मों में आसक्त रहने या योग के कारण भक्तियोग के पथ से भ्रष्ट होता है, तो उसे उच्च कुल में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है। इस प्रकार भगवान् द्वारा नियुक्त उच्चाधिकारी जीव की इच्छाओं को ध्यान में रखते हुए पूर्ण न्याय बरतते हैं। यद्यपि राजा पुरञ्जन अपनी पत्नी के विचारों में डूबा रहने के कारण स्त्री बना, किन्तु पूर्व पुण्यों के कारण उनका जन्म राजपरिवार में हुआ। तात्पर्य यह है कि दूसरा शरीर प्रदान किये जाते समय हमारे समस्त कर्मों का मूल्यांकन किया जाता है। इसीलिए नारद मुनि ने व्यासदेव को उपदेश दिया कि मनुष्य को अन्य सारे वृत्तिपरक कर्मों (धर्मों) को त्याग कर केवल कृष्णभक्ति करनी चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी यही उपदेश दिया। यद्यपि मनुष्य आध्यात्मिक चेतना के पथ से च्युत हो सकता है, किन्तु फिर भी वह किसी भक्त या धनी

के घर में मनुष्य रूप में जन्म प्राप्त करेगा। इस प्रकार से वह मनुष्य अपनी भक्ति को फिर से चालू कर सकता है।

उपयेमे वीर्यपणां वैदर्भी मलयध्वजः ।

युधि निर्जित्य राजन्यान्याण्ड्यः परपुरञ्जयः ॥ २९ ॥

### शब्दार्थ

उपयेमे—विवाह किया; वीर्य—शौर्य का; पणाम्—पुरस्कार; वैदर्भीम्—विदर्भ की कन्या; मलय-ध्वजः—मलयध्वज; युधि—युद्ध में; निर्जित्य—विजयी होकर; राजन्यान्—अन्य राजकुमार; पाण्ड्यः—पाण्डु देश में उत्पन्न अथवा सर्वश्रेष्ठ विद्वान्; पर—दिव्य; पुरम्—नगरी; जयः—विजेता।

यह निश्चय हुआ था कि राजा विदर्भ की कन्या वैदर्भी का विवाह अत्यन्त शक्तिशाली पुरुष मलयध्वज के साथ किया जाये जो पाण्डुदेश का रहने वाला था। उसने अन्य राजकुमारों को पराजित करके राजा विदर्भ की कन्या के साथ विवाह कर लिया।

तात्पर्य : क्षत्रियों में प्रचलन है कि किसी राजकुमारी का विवाह कुछ शर्तों के अन्तर्गत किया जाये। उदाहरणार्थ, द्रौपदी का विवाह उसके साथ होना था, जो मछली की परछाईं देख कर उसे बाण द्वारा वेध देगा। इसी तरह श्रीकृष्ण ने सात बलवान साँड़ों को हरा कर अपनी एक रानी को प्राप्त किया था। यह वैदिक प्रथा थी कि राजा अपनी कन्या का विवाह कुछ शर्तों के साथ करे। राजा विदर्भ की कन्या वैदर्भी एक परम भक्त तथा शक्तिशाली राजा को प्रदान की गई थी। चूँकि मलयध्वज एक शक्तिशाली राजा तथा महान् भक्त था, इसलिए वह सारी शर्तों को पूरा करता था। मलयध्वज नाम ही ऐसे भक्त का सूचक है, जो मलय पर्वत की भाँति अटल हो और अपने प्रचार से अन्य भक्तों को भी अटल बनाये। ऐसा महाभागवत अपनी बात को सभी को मनवा सकता है। प्रबल भक्त अन्य समस्त आध्यात्मिक विचारधाराओं—यथा ज्ञान, कर्म तथा योग के विरुद्ध प्रचार करता है। वह अपनी भक्ति-पताका फहराकर अन्य आध्यात्मिक विचारधाराओं को जीतने पर अटल रहता है। जब भी एक भक्त तथा अभक्त में शास्त्रार्थ होता है, तो शुद्ध प्रबल भक्त सदैव विजयी होता है।

पाण्ड्य शब्द पण्डा से बना है, जिसका अर्थ है “ज्ञान”। जब तक कोई शीर्षस्थ विद्वान् न हो वह अभक्तिपूर्ण विचारों पर विजय नहीं पा सकता। पर शब्द का अर्थ है “दिव्य” तथा पुर शब्द का अर्थ है “नगरी”। पर-पुर वैकुण्ठ है और जय शब्द जीतने वाले का सूचक है। इसका अर्थ यह हुआ कि शुद्ध भक्त यदि भक्ति में प्रबल है और उसने सभी अभक्तिपूर्ण विचारों पर विजय पा ली है, तो वह वैकुण्ठ

को भी जीत सकता है। दूसरे शब्दों में, केवल भक्ति के द्वारा वैकुण्ठ को जीता जा सकता है। भगवान् को अजित कहा गया है, किन्तु एक प्रबल भक्त अपनी दृढ़ भक्ति तथा सच्ची अनुरक्ति से भगवान् को भी जीत लेता है। भगवान् कृष्ण सबों के लिए साक्षात् भय हैं, किन्तु स्वेच्छा से वे यशोदा माता की छड़ी से भी भयभीत होते हैं। कृष्ण को उनके भक्त के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जीत सकता। ऐसे ही एक भक्त ने राजा विदर्भ की कन्या के साथ विवाह किया।

तस्यां स जनयां चक्र आत्मजामसितेक्षणाम् ।

यवीयसः सप्त सुतान्सप्त द्रविडभूभृतः ॥ ३० ॥

### शब्दार्थ

तस्याम्—उससे; सः—राजा ने; जनयाम् चक्रे—उत्पन्न किया; आत्मजाम्—पुत्री; असित—श्याम; ईक्षणाम्—आँखों वाली; यवीयसः—छोटा, अत्यन्त शक्तिमान; सप्त—सात; सुतान्—पुत्र; सप्त—सात; द्रविड—द्रविड़ देश (दक्षिण भारत); भू—भूभाग के; भृतः—राजा।

राजा मलयध्वज के एक पुत्री हुई जिसकी आँखें श्यामल थीं। उसके सात पुत्र भी हुए जो आगे चलकर द्रविड़ नामक देश के शासक बने। इस प्रकार उस देश में सात राजा हुए।

**तात्पर्य :** राजा मलयध्वज परम भक्त था। राजा विदर्भ की कन्या के साथ विवाह करने के बाद उसके एक सुन्दर कन्या उत्पन्न हुई, जिसकी आँखें श्यामल थीं। आलंकारिक रूप में इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी कन्या भी भक्ति-गुण से सम्पन्न थी, क्योंकि उसकी आँखें सदैव कृष्ण पर लगी रहती थीं। भक्त के लिए जीवन में कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई दृष्टि नहीं होती। सातों पुत्र भक्ति की सात विधाएँ हैं—श्रवण, स्मरण, कीर्तन, पूजन, प्रार्थना, दिव्य भक्ति करना तथा भगवान् के चरणकमलों की सेवा करना। नौ प्रकार की भक्ति में से केवल सात उसे प्राप्त थीं। शेष दो का—सख्यभाव तथा आत्मनिवेदन का—बाद में विकास होना था। दूसरे शब्दों में, भक्ति की दो कोटियाँ हैं—*विधि-मार्ग* तथा *राग-मार्ग*। सख्यभाव तथा आत्मनिवेदन ये दोनों *राग-मार्ग* के अन्तर्गत आते हैं। नवदीक्षित भक्त के लिए तो *विधि-मार्ग* की सात विधाएँ ही महत्त्वपूर्ण हैं।

*यवीयसः* शब्द सूचित करता है कि ये विधियाँ अत्यन्त शक्तिशाली हैं। जब भक्त *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् अर्चनं वन्दनं दास्यं* में लग जाता है और इन्हें प्राप्त कर लेता है, तो बाद में वह *सख्यम्* एवं *आत्मनिवेदनम्* को भी प्राप्त कर लेता है। सामान्यतः संसार-भर में भक्ति का उपदेश देने वाले सारे आचार्य *सख्यम् आत्मनिवेदनम्* कोटि के होते हैं। नवदीक्षित भक्त वास्तव में उपदेशक

नहीं बन सकता। उसे अन्य सात क्षेत्रों ( *श्रवणं कीर्तनं* इत्यादि) में भक्ति करने की सलाह दी जाती है। यदि वह इन प्रारम्भिक सातों को सफलतापूर्वक पूरा कर लेता है, तो भविष्य में वह *सख्यम् आत्मनिवेदनम्* पद को प्राप्त कर लेता है।

द्रविड़ देश का विशेष उल्लेख दक्षिण भारत के पाँच द्रविड़ देशों के लिए हुआ है। ये सब मूल भक्ति की विधियों ( *श्रवणं कीर्तनं* इत्यादि) को सम्पन्न करने में अत्यन्त प्रबल हैं। कुछ महान् आचार्य, यथा रामानुजाचार्य तथा मध्वाचार्य द्रविड़ देश के ही थे, जो महान् उपदेशक हुए। वे सभी *सख्यम् आत्मनिवेदनम्* पद पर आसीन थे।

एकैकस्याभवत्तेषां राजन्नर्बुदमर्बुदम् ।

भोक्ष्यते यद्वंशधरैर्मही मन्वन्तरं परम् ॥ ३१ ॥

#### शब्दार्थ

एक-एकस्य—हर एक के; अभवत्—हुए; तेषाम्—उनके; राजन्—हे राजा; अर्बुदम्—एक करोड़; अर्बुदम्—एक करोड़; भोक्ष्यते—भोगेंगे; यत्—जिसका; वंश-धरैः—वंशजों द्वारा; मही—सारा संसार; मनु-अन्तरम्—एक मनु के अन्त तक; परम्—तथा उसके पश्चात्।

हे राजा प्राचीनबर्हिषत्, मलयध्वज राजा के पुत्रों ने लाखों पुत्रों को जन्म दिया और ये सब एक मनु की अवधि के अन्त तक तथा उसके बाद भी सारे संसार का पालन करते रहे।

तात्पर्य : ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं। एक मन्वन्तर अर्थात् मनु की आयु ७१ × ४३,२०,००० वर्ष है। एक मनु के बाद दूसरा मनु आता है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड का जीवन-चक्र चलता रहता है। चूँकि एक के बाद एक मनु की परम्परा चलती है, अतः कृष्णभक्ति सम्प्रदाय चलता रहता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.१) में हुई है—

*श्रीभगवानुवाच*

*इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।*

*विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥*

“प्रसन्नचित्त भगवान् ने कहा—मैंने इस अविनाशी योग विज्ञान की शिक्षा विवस्वान् को दी, विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को दी।” सूर्यदेव विवस्वान् ने *भगवद्गीता* एक मनु को प्रदान की और इस मनु ने अपने पुत्र को दी जिसने फिर उसे अन्य मनु को प्रदान की। इस प्रकार कृष्णभक्ति का प्रचार कभी रुकता नहीं। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि यह कृष्णभावनामृत-

आन्दोलन नया है। जैसाकि *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* से पुष्टि होती है, यह अत्यन्त प्राचीन आन्दोलन है, क्योंकि यह एक मनु से दूसरे को हस्तान्तरित होता रहा है।

वैष्णवों में कुछ व्यक्तिगत मतभेद हो सकते हैं, किन्तु कृष्णभक्ति सम्प्रदाय तो आगे बढ़ते ही रहता है। हम देख सकते हैं कि विगत १०० वर्षों में श्रील भक्ति विनोद ठाकुर के आदेश से श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज ने सुसम्बद्ध रूप से कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का उपदेश कार्य प्रारम्भ किया। श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज के सारे शिष्य गुरुभाई हैं और यद्यपि इनमें कुछ मतभिन्नताएँ हैं और वे मिलकर एकसाथ काम नहीं करते, किन्तु इनमें से प्रत्येक अपनी व्यक्तिगत क्षमता से कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए कार्य कर रहा है और विश्व भर में इसे प्रचारित करने के लिए अनेक शिष्य उत्पन्न कर रहा है। जहाँ तक हमारी बात है, हमने पहले ही अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ की स्थापना की है और कई हजार यूरोपीय तथा अमरीकी इस आन्दोलन में सम्मिलित हो चुके हैं। यह आन्दोलन दावाग्न के समान फैल रहा है। नवधा भक्ति पर आश्रित श्रीकृष्णभक्ति सम्प्रदाय कभी रुकने वाला नहीं। यह किसी जातिपाँति, रंग तथा देश के भेदभाव के बिना आगे बढ़ता रहेगा। इसे कोई रोक नहीं सकता।

इस श्लोक में *भोक्ष्यते* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार राजा अपनी प्रजा को सुरक्षा प्रदान करता है उसी प्रकार ये सारे भक्त भक्ति के सिद्धान्तों का पालन करते हुए संसार-भर के लोगों को सुरक्षा प्रदान करेंगे। संसार के लोग तथाकथित धार्मिक स्वामियों, योगियों, कर्मियों तथा ज्ञानियों से तंग आ चुके हैं, क्योंकि इनमें से कोई भी आध्यात्मिक पद तक पहुँचने का सही मार्ग नहीं बता पाता। सारे संसार में भक्ति का प्रचार करने वाले चार सम्प्रदाय हैं। ये हैं—रामानुज सम्प्रदाय, मध्व सम्प्रदाय, विष्णुस्वामी सम्प्रदाय तथा निम्बार्क सम्प्रदाय। मध्व गौड़ीय सम्प्रदाय भगवान् चैतन्य महाप्रभु की देन है। ये सारे भक्त कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का व्यापक प्रचार कर रहे हैं और निर्दोष जनता को संरक्षण प्रदान कर रहे हैं, जो छद्म अवतारों, स्वामियों, योगियों तथा बाबाओं से संतुष्ट हैं।

अगस्त्यः प्राग्दुहितरमुपयेमे धृतव्रताम् ।

यस्यां दृढच्युतो जात इध्मवाहात्मजो मुनिः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अगस्त्यः—अगस्त्य मुनि ने; प्राक्—पहली; दुहितरम्—कन्या को; उपयेमे—विवाह दिया; धृत-व्रताम्—व्रत धारण किये; यस्याम्—जिससे; दृढच्युतः—दृढच्युत नामक; जातः—उत्पन्न हुआ; इध्मवाह—इध्मवाह नामक; आत्म-जः—पुत्र; मुनिः—मुनि।

भगवान् कृष्ण के परम भक्त मलयध्वज की पहली कन्या का विवाह अगस्त्य मुनि के साथ हुआ। उससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम दृढच्युत था जिससे इध्मवाह नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

**तात्पर्य :** अगस्त्य मुनि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नाम है। यह मन का द्योतक है। अगस्त्य सूचित करता है कि इन्द्रियाँ स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं करतीं और मुनि शब्द “मन” का सूचक है। मन समस्त इन्द्रियों का केन्द्र है और ये इन्द्रियाँ मन के बिना कोई कार्य नहीं कर सकतीं। जब मन भक्ति सम्प्रदाय को ग्रहण करता है, तो यह सेवा में लग जाता है। भक्ति सम्प्रदाय ( भक्तिलता) मलयध्वज की पहली पुत्री है और जैसाकि पहले बताया जा चुका है उसकी आँखें कृष्ण पर लगी रहती थीं ( *असितेक्षणाम्* )। कोई किसी देवता की भक्ति नहीं कर सकता; भक्ति तो केवल भगवान् विष्णु की जा सकती है ( *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* )। भगवान् को निराकार मानते हुए मायावादियों का कहना है कि भक्ति किसी भी प्रकार की पूजा के लिए प्रयुक्त हो सकता है। यदि ऐसा होता तो भक्त किसी भी देव या देव रूप की कल्पना करके उसकी पूजा करता। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि भक्ति केवल विष्णु तथा उनके अंशों की ही की जा सकती है। अतः भक्तिलता *दृढव्रता* है, क्योंकि जब मन भक्ति में लग जाता है, तो वह च्युत नहीं होता। यदि कोई अन्य साधनों से—यथा कर्मयोग या ज्ञानयोग से—आगे बढ़ना चाहता है, तो वह गिर जाता है, किन्तु यदि वह भक्ति में स्थिर (दृढ़) है, तो वह गिरता नहीं।

इस प्रकार भक्तिलता से दृढच्युत नामक पुत्र उत्पन्न होता है और दृढच्युत से इध्मवाह उत्पन्न होता है। इध्मवाह का अर्थ है अपने गुरु के पास यज्ञ-समिधा लेकर जाने वाला। कहने का तात्पर्य यह कि भक्तिलता मनुष्य को आध्यात्मिक पद पर स्थिर कर देती है। इस प्रकार स्थिर रहनेवाला कभी नहीं गिरता और उससे जो पुत्र उत्पन्न होंगे वे शास्त्रीय आदेशों के दृढ़पालक होंगे। जैसाकि वेदों का कथन है—

*तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*

*समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।*



जो भक्ति में दीक्षित होते हैं, वे वैदिक शास्त्रीय आदेशों के दृढ़पालक होते हैं।

विभज्य तनयेभ्यः क्षमां राजर्षिर्मलयध्वजः ।

आरिराधयिषुः कृष्णं स जगाम कुलाचलम् ॥ ३३ ॥

### शब्दार्थ

विभज्य—बाँटकर; तनयेभ्यः—अपने पुत्रों में; क्षमाम्—सम्पूर्ण पृथ्वी को; राज-ऋषिः—परम साधु राजा; मलयध्वजः—मलयध्वज; आरिराधयिषुः—आराधना करने की इच्छा से; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण की; सः—वह; जगाम—चला गया; कुलाचलम्—कुलाचल नामक स्थान में।

इसके पश्चात् राजर्षि मलयध्वज ने अपना सारा राज्य अपने पुत्रों में बाँट दिया। तब वे पूरे मनोयोग से भगवान् कृष्ण की पूजा करने के लिए कुलाचल नामक एकान्त स्थान में चले गये।

तात्पर्य : महाराज मलयध्वज निश्चित रूप से महाभागवत थे। भक्ति करने के कारण भक्ति सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए उनके कई पुत्र तथा शिष्य हुए। वास्तव में सारा संसार ऐसे शिष्यों में विभाजित हो जाना चाहिए और हर एक को कृष्णभक्ति सम्प्रदाय का प्रचार करने में लग जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जब शिष्य बड़े हो जाँय और प्रचार कार्य कर सकें तो गुरु को चाहिए कि वह अवकाश ग्रहण कर ले और एकान्त स्थान में बैठ कर लिखे तथा निर्जन-भजन करे। इसका अर्थ हुआ मौन होकर एकान्त वास तथा भक्ति। यह निर्जन-भजन—जो एकान्त में परमेश्वर की आराधना है—नवदीक्षित के लिए सम्भव नहीं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने कभी भी नवदीक्षित भक्त को किसी एकान्त स्थान में जाकर भक्ति करने की सलाह नहीं दी। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक गीत लिखा है—

दुष्ट मन, तुमि किसेर वैष्णव ?

प्रतिष्ठार तरे, निर्जनेर घरे,

तव हरिनाम केवल कैतव

“अरे मेरे मन! तुम किस तरह के भक्त हो? केवल सस्ती पूजा के लिए तुम एकान्त स्थान में बैठकर हरे कृष्ण महामंत्र जपने का स्वांग भरते हो, किन्तु यह सब धोखा है।” इस प्रकार श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने सदैव इसका समर्थन किया कि प्रत्येक भक्त योग्य गुरु के निर्देशन में भक्ति सम्प्रदाय का सारे विश्व में उपदेश दे। प्रौढ़ हो जाने पर ही एकान्त स्थान में बैठा जा सकता है और संसार-भर में प्रचार के कार्य से अवकाश ग्रहण किया जा सकता है। इस आदर्श का पालन करते

हुए अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत-संघ के भक्तगण संसार भर के विभिन्न भागों में उपदेश देने का कार्य करते हैं। अब वे अपने गुरु को सक्रिय उपदेश-कार्य से विराम लेने के लिए छोड़ सकते हैं। गुरुओं के जीवन की अन्तिम अवस्था में भक्तों को चाहिए कि उपदेश कार्य अपने हाथों में ले लें। इस प्रकार गुरु निर्जन स्थान में बैठ कर *निर्जन-भजन* कर सकता है।

हित्वा गृहान्सुताभोगान्वैदर्भी मदिरेक्षणा ।

अन्वधावत पाण्ड्येशं ज्योत्स्नेव रजनीकरम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

हित्वा—त्याग कर; गृहान्—घर को; सुतान्—बच्चों को; भोगान्—भौतिक सुखों को; वैदर्भी—राजा विदर्भ की पुत्री; मदिरे-ईक्षणा—मादक लोचनों वाली; अन्वधावत—अनुगमन किया; पाण्ड्य-ईशम्—राजा मलयध्वज का; ज्योत्स्ना इव—चन्द्रिका के समान; रजनी-करम्—चन्द्रमा।

जिस प्रकार रात्रि में चाँदनी चन्द्रमा का अनुसरण करती है, उसी तरह राजा मलयध्वज के कुलाचल जाते ही मादक नेत्रों वाली उसकी अनुरक्त पत्नी अपने घर, पुत्र के होते हुए भी समस्त भोगों को तिलांजलि देकर उसके साथ हो ली।

**तात्पर्य :** जिस प्रकार वानप्रस्थ अवस्था में पत्नी भी पति के साथ हो लेती है उसी प्रकार जब गुरु *निर्जन-भजन* के लिए एकान्त वास करता है, तो उसके कुछ बड़े-बड़े भक्त उसकी सेवा करने के उद्देश्य से उसके साथ हो लेते हैं। दूसरे शब्दों में, जिन्हें गृहस्थ जीवन अत्यन्त प्रिय है उन्हें गुरु की सेवा के लिए आगे बढ़कर आना चाहिए और समाज, मित्रता तथा प्रेम द्वारा प्राप्त सुविधाओं का परित्याग करना चाहिए। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर-कृत *गुर्वृष्टक* में एक श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः*। शिष्य को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि गुरु की सेवा करने से वह सहज ही कृष्णभक्ति में अग्रसर हो सकता है। सभी शास्त्र कहते हैं कि गुरु को प्रसन्न करने तथा उसकी सेवा करने से भक्ति की सिद्ध अवस्था प्राप्त की जा सकती है।

इस श्लोक का *मदिरेक्षणा* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। श्रील जीव गोस्वामी ने अपनी कृति *सन्दर्भ* में *मदिर* शब्द की व्याख्या “मादक” के रूप में की है। यदि अर्चाविग्रह को देखकर किसी की आँखें मादक बन जाँय तो उसे *मदिरेक्षण* कहा जा सकता है। रानी वैदर्भी की आँखें अत्यन्त मोहक थीं जिस प्रकार कि मन्दिर में अर्चा-विग्रह को देखने से मनुष्य की आँखें *मदिरेक्षण* हो जाती हैं। जब तक भक्त महान् नहीं होता तब तक वह मन्दिर में अर्चा-विग्रह पर अपनी आँखें नहीं टिका पाता।

तत्र चन्द्रवसा नाम ताम्रपर्णी वटोदका ।

तत्पुण्यसलिलैर्नित्यमुभयत्रात्मनो मृजन् ॥ ३५ ॥

कन्दाष्टिभिर्मूलफलैः पुष्पपर्णैस्तृणोदकैः ।

वर्तमानः शनैर्गात्रकर्शनं तप आस्थितः ॥ ३६ ॥

### शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; चन्द्रवसा—चन्द्रवसा नदी; नाम—नामक; ताम्रपर्णी—ताम्रपर्णी नदी; वटोदका—वटोदका नदी; तत्—उन नदियों के; पुण्य—पवित्र; सलिलैः—जल से; नित्यम्—नित्य प्रति; उभयत्र—दोनों प्रकार से; आत्मनः—अपने आपको; मृजन्—नहाकर; कन्द—मूल; अष्टिभिः—तथा बीजों से; मूल—जड़ें; फलैः—तथा फलों से; पुष्प—फूल; पर्णैः—तथा पत्तों से; तृणा—घास; उदकैः—तथा जल से; वर्तमानः—निर्वाह करते हुए; शनैः—धीरे-धीरे; गात्र—अपना शरीर; कर्शनम्—दुबला करके; तपः—तपस्या; आस्थितः—किया।

कुलाचल प्रान्त में चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी तथा वटोदका नाम की तीन नदियाँ थीं। राजा मलयध्वज नित्य ही इन पवित्र नदियों में जाकर स्नान करता था। इस प्रकार उसने बाहर तथा अन्दर से अपने को पवित्र कर लिया था। वह स्नान करता और कन्द, बीज, पत्तियाँ, फूल, जड़ें, फल तथा घास खाता तथा जल पीता था। इस प्रकार वह कठिन तपस्या करने लगा। अन्त में वह अत्यन्त कृश कार्य हो गया।

तात्पर्य : यह हम निश्चित रूप से देख सकते हैं कि कृष्णभक्ति में अग्रसर होने के लिए मनुष्य को अपने शरीर-भार पर नियंत्रण रखना चाहिए। यदि कोई अत्यधिक मोटा हो जाए तो समझना चाहिए कि वह आध्यात्मिक रूप से उन्नति नहीं कर रहा है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर अपने मोटे शिष्यों की कटु आलोचना किया करते थे। भाव यह है कि जिसे कृष्णभक्ति में आगे बढ़ने की इच्छा हो उसे अत्यधिक भोजन नहीं करना चाहिए। भक्त लोग पहले जंगलों या पहाड़ों में तीर्थयात्रा के लिए जाते थे, किन्तु आजकल ऐसी कठिन तपस्या सम्भव नहीं है। मनुष्य को केवल इतना प्रसाद खाना चाहिए जो आवश्यकता से अधिक न हो। वैष्णव पंचांग के अनुसार उपवास के अनेक दिन हैं—यथा एकादशी तथा भगवान् एवं भक्तों के आविर्भाव एवं तिरोभाव के दिन। ये सारे उपवास शरीर की चर्बी को कम करने के उद्देश्य से हैं, जिससे भक्त न तो आवश्यकता से अधिक सोये और न निष्क्रिय तथा आलसी बने। अधिक खाने से अधिक नींद आयेगी। यह मनुष्य-जीवन तप के लिए मिला है और तप का अर्थ है संभोग, आहार इत्यादि पर नियंत्रण। इससे आध्यात्मिक कार्यों के लिए समय बचेगा और मनुष्य अपने को बाहर तथा भीतर दोनों प्रकार से शुद्ध कर सकता है। इस प्रकार से शरीर तथा मन दोनों शुद्ध

हो सकते हैं।

शीतोष्णवातवर्षाणि क्षुत्पिपासे प्रियाप्रिये ।

सुखदुःखे इति द्वन्द्वान्यजयत्समदर्शनः ॥ ३७ ॥

#### शब्दार्थ

शीत—जाड़ा; उष्ण—गर्मी; वात—हवा; वर्षाणि—तथा वर्षा ऋतुएँ; क्षुत्—भूख; पिपासे—तथा प्यास; प्रिय—सुहावना; अप्रिये—तथा न अच्छा लगने वाला; सुख—सुख; दुःखे—तथा कष्ट; इति—इस प्रकार; द्वन्द्वानि—द्वैतभाव को; अजयत्—जीत लिया; सम-दर्शनः—समदर्शी, समदृष्टि रखने वाला।

तपस्या के द्वारा राजा मलयध्वज धीरे-धीरे शरीर तथा मन से जाड़ा तथा गर्मी, सुख तथा दुःख, वायु तथा वर्षा, भूख तथा प्यास, अच्छा तथा बुरा इन द्वैतभावों के प्रति समान दृष्टि वाला हो गया। इस प्रकार उसने सभी द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त कर ली।

**तात्पर्य :** मुक्ति का अर्थ है संसार की द्वैतता से छुटकारा पाना। जब तक कोई स्वरूपसिद्ध नहीं होता उसे संसार के द्वन्द्व संघर्षों से गुजरना पड़ता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं कि वह सहनशीलता के द्वारा सारे द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त करे। श्रीकृष्ण संकेत करते हैं कि जाड़ा तथा गर्मी जैसे द्वन्द्व ही हमें इस संसार में कष्ट पहुँचाते हैं। जाड़ों में हम स्नान नहीं करना चाहते, किन्तु गर्मियों में हम दो-तीन बार स्नान करना चाहते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण यह उपदेश देते हैं कि जब जीवन में इस प्रकार के द्वन्द्व आये-जायें तो हमें विचलित नहीं होना चाहिए।

इन द्वन्द्वों में समदृष्टि रखने के लिए सामान्य मनुष्य को काफी तपस्या करनी पड़ती है। जो जीवन के द्वन्द्वों से विचलित होता है, वह एक सापेक्ष स्थिति ग्रहण कर चुका होता है, अतः उसे शास्त्रों में वर्णित तपस्या करनी होती है, जिससे वह इस भौतिक शरीर को लॉघ करके इस संसारिकता का अन्त कर दे। राजा मलयध्वज ने अपना गृहत्याग करके, कुलाचल जाकर, पवित्र नदियों में स्नान करके केवल फल, मूल, पत्तियाँ जैसी वनस्पतियाँ खाकर और पकाया हुआ भोजन या अन्न त्यागकर कठिन तपस्या की थी। ये अत्यन्त कठोर अभ्यास हैं। आजकल घर छोड़कर किसी जंगल में या हिमालय में जाकर कठिन तपस्या करना अत्यन्त दुष्कर है। एक तरह से यह असम्भव है। यदि किसी से मांसाहार, मद्यपान, द्यूत क्रीड़ा तथा अवैध संभोग बन्द करने के लिए भी कहा जाये तो वह ऐसा नहीं कर पाता। अतः वह हिमालय या कुलाचल जाय भी तो वहाँ क्या करेगा? इस युग में ऐसा त्याग कठिन है, इसीलिए भगवान् कृष्ण ने भक्तियोग को स्वीकार करने की सलाह दी है। भक्तियोग स्वतः मनुष्य को

जीवन के द्वन्द्वों से उबारेगा। भक्तियोग में कृष्ण केन्द्रबिन्दु होते हैं और कृष्ण तो सदैव दिव्य हैं। इस प्रकार द्वन्द्वों को पार करने के लिए मनुष्य को सदैव भगवान् की भक्ति में लगे रहना चाहिए, जिसकी पुष्टि भगवद्गीता (१४.२६) में हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

“जो पूर्ण भक्ति में लगा रहता है और किसी भी दशा में नीचे नहीं गिरता, वह तुरन्त प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।”

यदि वास्तव में कोई भगवान् की भक्ति—भक्तियोग—में लगा है, तो वह स्वतः अपनी इन्द्रियों, अपनी वाणी तथा अन्य अनेक वस्तुओं पर नियंत्रण रखता है। यदि एक बार निष्ठापूर्वक भक्तियोग में लग जाया जाय तो फिर नीचे गिरने की कोई सम्भावना नहीं रहती। यदि वह नीचे गिरे भी तो भी कोई हानि नहीं होती। कुछ काल के लिए भले ही किसी के भक्ति-कार्य में अवरोध आ जाये, किन्तु ज्योंही उसे दूसरा अवसर मिलता है, तो अभ्यासकर्ता वहीं से उसे दोबारा प्रारम्भ करता है जहाँ पर उसने छोड़ा था।

तपसा विद्यया पक्वकषायो नियमैर्यमैः ।

युयुजे ब्रह्मण्यात्मानं विजिताक्षानिलाशयः ॥ ३८ ॥

#### शब्दार्थ

तपसा—तपस्या से; विद्यया—शिक्षा से; पक्व—जलाकर; कषायः—समस्त मल; नियमैः—विधानों से; यमैः—आत्मसंयम से; युयुजे—उसने स्थिर किया; ब्रह्मणि—ब्रह्म में, आत्म-साक्षात्कार में; आत्मानम्—अपने आपको; विजित—पूर्णतया वश में; अक्ष—इन्द्रियों; अनिल—प्राण; आशयः—चेतना।

पूजा से, तप साधना से तथा नियमों के पालन से राजा मलयध्वज ने अपनी इन्द्रियों, प्राण तथा चेतना को जीत लिया। इस प्रकार उसने हर वस्तु को परब्रह्म ( कृष्ण ) रूपी केन्द्रबिन्दु पर स्थिर कर लिया।

तात्पर्य : जब भी ब्रह्म शब्द आता है, तो निर्विशेषवादी इसका अर्थ ब्रह्मज्योति के रूप में करते हैं। किन्तु वास्तव में परब्रह्म तो कृष्ण या वासुदेव हैं। जैसाकि भगवद्गीता (७.१९) में कहा गया है—  
वासुदेवः सर्वमिति—वासुदेव निर्गुण ब्रह्म की भाँति सर्वत्र व्याप्त हैं। कोई “किसी” निराकार वस्तु पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकता। इसलिए भगवद्गीता (१२.५) में कहा गया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्—जिनके मन अप्रकट निराकार ब्रह्म में केन्द्रित हैं, उनके लिए प्रगति कर पाना कष्टप्रद है। अतः जब यहाँ पर यह कहा जाता है कि राजा मलयध्वज ने अपना मन ब्रह्म में स्थिर कर दिया तो ब्रह्म का अर्थ है भगवान् वासुदेव।

आस्ते स्थाणुरिवैकत्र दिव्यं वर्षशतं स्थिरः ।  
वासुदेवे भगवति नान्यद्वेदोद्बहन्नतिम् ॥ ३९ ॥

#### शब्दार्थ

आस्ते—रहे आये; स्थाणुः—अचल; इव—सदृश; एकत्र—एक स्थान पर; दिव्यम्—देवताओं के; वर्ष—वर्ष; शतम्—एक सौ; स्थिरः—स्थिर; वासुदेवे—भगवान् कृष्ण पर; भगवति—भगवान्; न—नहीं; अन्यत्—अन्य कुछ; वेद—जान पाये; उद्बहन्—रखते हुए; रतिम्—आसक्ति।

इस प्रकार देवों की गणना के एक सौ वर्षों तक वे एक ही स्थान पर अचल बने रहे। इसके बाद उन्हें भगवान् कृष्ण के प्रति भक्तिमयी आसक्ति उत्पन्न हुई और वे उसी स्थिति में स्थिर रहे।

तात्पर्य : भगवद्गीता (७.१९) में कहा गया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

“अनेक जन्म-जन्मांतरों के बाद जिसे वास्तव में ज्ञान होता है, वह मुझे समस्त करणों का कारण मानकर मेरी शरण में आता है और मुझी को सब कुछ मानता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।” वासुदेव श्रीकृष्ण ही सब कुछ हैं, जो यह जान लेता है, वह सबसे बड़ा योगी है। भगवद्गीता में यह बताया गया है कि लोग अनेक जन्मों के बाद इसे जान पाते हैं। इसकी पुष्टि इस श्लोक के दिव्यं वर्षशतम् शब्दों से भी होती है। देवताओं की गणना के अनुसार एक दिन (१२ घंटे) पृथ्वी के छह मास के बराबर होता है। देवताओं के सौ वर्ष पृथ्वी के छत्तीस हजार वर्षों के तुल्य हुए। इस प्रकार राजा मलयध्वज ने छत्तीस हजार वर्षों तक तपस्या की। इसके बाद वे भगवान् की भक्ति में स्थिर हुए। सामान्य मनुष्य को इतने वर्षों तक जीवित रहने के लिए अनेक बार जन्म लेना होगा। इससे श्रीकृष्ण के अभिमत की पुष्टि होती है। कृष्णचेतना प्राप्त करना तथा कृष्ण ही सब कुछ हैं, इस विचार में स्थिर रहना तथा कृष्ण की सेवा करना—ये सिद्धि अवस्था के लक्षण हैं। जैसाकि श्रीचैतन्य-चरितामृत (मध्य २२.६२) में कहा गया है—कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत ह्य। जब कोई पूजा द्वारा या कृष्ण की भक्ति करते हुए इस निष्कर्ष तक पहुँचता है कि कृष्ण ही सब कुछ हैं, तो मनुष्य सचमुच ही सब तरह से

पूर्ण हो जाता है। उसे न केवल इस निष्कर्ष पर पहुँचना होता है कि कृष्ण ही सब कुछ हैं, वरन् इस विचार पर स्थिर भी रहना पड़ता है। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है और अन्त में मलयध्वज ने यही सिद्धि प्राप्त की।

स व्यापकतयात्मानं व्यतिरिक्ततयात्मनि ।

विद्वान्स्वप्न इवामर्शसाक्षिणं विरराम ह ॥ ४० ॥

#### शब्दार्थ

स:— राजा मलयध्वज; व्यापकतया— सर्वव्यापी होने से; आत्मानम्— परमात्मा को; व्यतिरिक्ततया— विभेद से; आत्मनि— अपने आप में; विद्वान्— सुशिक्षित; स्वप्ने— स्वप्न में; इव— सदृश; अमर्श— ज्ञान; साक्षिणम्— साक्षी; विरराम— उदासीन हो गया; ह— निश्चय ही।

आत्मा और परमात्मा में अन्तर कर सकने के कारण राजा मलयध्वज ने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया। आत्मा एक-स्थानिक है, जबकि परमात्मा सर्वव्यापी है। यह भौतिक देह आत्मा नहीं है, अपितु आत्मा इस भौतिक देह का साक्षी है—उन्हें इसका पूरा-पूरा ज्ञान हो गया।

तात्पर्य : बद्धजीव प्रायः भौतिक देह, आत्मा तथा परमात्मा का अन्तर समझने के प्रयास में निराश हो जाता है। मायावादी चिन्तक दो प्रकार के हैं—बौद्ध दर्शन के अनुयायी तथा शंकर-दर्शन के अनुयायी। बुद्ध के अनुयायी शरीर के परे कुछ भी नहीं मानते और शंकराचार्य के अनुयायी परमात्मा की पृथक् सत्ता को नहीं मानते। शांकरमत के अनुयायी विश्वास करते हैं कि अन्ततः आत्मा और परमात्मा एकरूप हैं। किन्तु वैष्णव चिन्तक पूर्ण ज्ञानी होने के कारण इस शरीर को बहिरंगा शक्ति से बना मानता है और परमात्मा, को प्रत्येक आत्मा के भीतर स्थित तथा इस प्रकार उससे भिन्न मानता है। जैसाकि श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता (१३.३) में कहा है—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥

“हे अर्जुन! तुम जान लो कि मैं समस्त देहों को जाननेवाला हूँ। इस देह तथा इसके स्वामी को जानना ही ज्ञान है। ऐसा मेरा मत है।”

शरीर को क्षेत्र माना जाता है और आत्मा (जीव) को उस क्षेत्र में कार्य करने वाला। किन्तु एक अन्य आत्मा भी है, जिसे परमात्मा कहते हैं, जो आत्मा के साथ रहकर केवल साक्षी बना रहता है। आत्मा (जीव) कार्य करता है और शरीर के फलों का भोग करता है, किन्तु परमात्मा केवल आत्मा के

कार्यों को देखता हैं किन्तु कर्म-फलों का भोग नहीं करता। परमात्मा प्रत्येक कार्यक्षेत्र में वर्तमान है, किन्तु आत्मा तो केवल अपने सीमित शरीर में रहता है। राजा मलयध्वज को ज्ञान की यह पूर्णता प्राप्त थी, वह आत्मा, परमात्मा तथा भौतिक देह में अन्तर करने में सक्षम था।

साक्षाद्भगवतोक्तेन गुरुणा हरिणा नृप ।  
विशुद्धज्ञानदीपेन स्फुरता विश्वतोमुखम् ॥ ४१ ॥

#### शब्दार्थ

साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवता—भगवान् द्वारा; उक्तेन—आदेशित; गुरुणा—गुरु द्वारा; हरिणा—भगवान् हरि द्वारा; नृप—हे राजा; विशुद्ध—शुद्ध; ज्ञान—ज्ञान के; दीपेन—प्रकाश से; स्फुरता—प्रकाशित; विश्वतः—मुखम्—चारों ओर।

इस प्रकार राजा मलयध्वज को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हुई, क्योंकि शुद्ध अवस्था में उसे साक्षात् भगवान् ने उपदेश दिया था। ऐसे दिव्य ज्ञान के द्वारा वह प्रत्येक वस्तु को समस्त दृष्टिकोणों से समझ सकता था।

तात्पर्य : इस श्लोक में साक्षाद्भगवतोक्तेन गुरुणा हरिणा पद महत्त्वपूर्ण है। जब भक्त भगवान् की भक्ति द्वारा अपने को पूर्णतः शुद्ध कर लेता है, तो भगवान् स्वयं आत्मा से बात करते हैं। भगवद्गीता (१०.१०) में भगवान् कृष्ण ने इसकी पुष्टि की है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

“जो प्रेमपूर्वक मेरी सतत पूजा करते हैं उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।”

भगवान् प्रत्येक हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं और चैत्य गुरु अर्थात् आन्तरिक गुरु की तरह कार्य करते हैं। किन्तु वे सिद्ध भक्तों को ही साक्षात् आदेश देते हैं। प्रारम्भ में जब भक्त अत्यन्त निष्ठावान् होता है, तो भगवान् उसके अन्तःकरण से आदेश देते हैं कि गुरु के पास जाओ, किन्तु जब वह गुरु से भक्ति के विधि विधानों के अनुसार शिक्षा प्राप्त कर लेता है और राग-भक्ति के स्तर को प्राप्त कर लेता है, तो भगवान् भी उसे अन्तःकरण से आदेश देते हैं—तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। यह स्पष्ट लाभ मुक्त जीव को प्राप्त होता है। इस अवस्था को प्राप्त करके राजा मलयध्वज परमेश्वर के सम्पर्क में आया और सीधे उनसे आदेश प्राप्त करने लगा।



परे ब्रह्मणि चात्मानं परं ब्रह्म तथात्मनि ।  
वीक्षमाणो विहायेक्षामस्मादुपरराम ह ॥ ४२ ॥

#### शब्दार्थ

परे—दिव्य; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; च—तथा; आत्मानम्—आत्मा को; परम्—परम; ब्रह्म—ब्रह्म; तथा—भी; आत्मनि—अपने में; वीक्षमाणः—देखते हुए; विहाय—त्याग कर; ईक्षाम्—अन्तर; अस्मात्—इस विधि से; उपरराम—शान्त हो गया; ह—निश्चय ही ।

इस प्रकार राजा मलयध्वज परमात्मा को अपने पास बैठा हुआ और स्वयं आत्मा रूप को परमात्मा के निकट बैठा हुआ देख सकता था। चूँकि वे दोनों साथ-साथ थे, अतः उनके स्वार्थों का भिन्न होना आवश्यक न था। इस प्रकार उसने ऐसे कार्य करने बन्द कर दिये।

तात्पर्य : भक्ति की सिद्धावस्था में भक्त अपने तथा भगवान् के स्वार्थों में कोई अन्तर नहीं देखता। दोनों के स्वार्थ एकाकार हो जाते हैं। वह जो कुछ भी करता है, भगवान् के हित में करता है। साथ ही वह प्रत्येक वस्तु को परमात्मा में और परमात्मा को हर वस्तु में देखता है। इस अवस्था को प्राप्त हो जाने पर उसे आध्यात्मिक तथा भौतिक जगत् में कोई अन्तर नहीं दिखता। यह भौतिक जगत् परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति होने के कारण उसके लिए आध्यात्मिक जगत् बन जाता है। पूर्ण भक्त के लिए शक्ति तथा शक्तिमान में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार तथाकथित भौतिक जगत् आध्यात्मिक जगत् बन जाता है ( सर्व खल्विदं ब्रह्म )। प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा के लिए है और निपुण भक्त किसी भी तथाकथित वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा के लिए कर सकता है। आध्यात्मिक पद को प्राप्त किये बिना कोई भी भगवान् की सेवा नहीं कर सकता। इस प्रकार यदि किसी तथाकथित भौतिक वस्तु को भगवान् की सेवा में प्रयुक्त कर लिया जाये तो वह भौतिक नहीं रह जाती। इस प्रकार शुद्ध भक्त की पूर्ण दृष्टि चारों दिशाओं में देखती है।

पतिं परमधर्मज्ञं वैदर्भी मलयध्वजम् ।  
प्रेम्णा पर्यचरद्धित्वा भोगान्सा पतिदेवता ॥ ४३ ॥

#### शब्दार्थ

पतिम्—अपने पति; परम—परम; धर्म-ज्ञम्—धर्म का ज्ञाता; वैदर्भी—राजा विदर्भ की पुत्री ने; मलय-ध्वजम्—मलयध्वज को; प्रेम्णा—प्रेम से; पर्यचरत्—भक्ति-पूर्वक सेवा की; हित्वा—त्याग कर; भोगान्—इन्द्रियसुख; सा—उसने; पति-देवता—पति को परमेश्वर मानकर ।

राजा विदर्भ की कन्या अपने पति को परमेश्वर रूप में सर्वेसर्वा मानती थी। उसने सारे

इन्द्रिय-सुख त्याग दिये और पूर्णतः विरक्त होकर वह अपने परम ज्ञानी पति के सिद्धान्तों का पालन करने लगी। इस प्रकार वह उसकी सेवा में लगी रही।

**तात्पर्य :** अलंकारिक भाषा में राजा मलयध्वज गुरु रूप है और उसकी पत्नी वैदर्भी शिष्य है। शिष्य गुरु को परमेश्वर-रूप मानता है। जैसाकि *गुर्वाष्टिक* में श्रील विश्वनाथ चन्द्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—*साक्षाद्भक्तिवेन*—“मनुष्य गुरु को साक्षात् भगवान् मानता है।” मनुष्य को मायावादी चिन्तकों की विधि से गुरु स्वीकार न करके यहाँ पर बताई गई विधि से स्वीकार करना चाहिए। चूँकि गुरु भगवान् का परम विश्वस्त दास होता है, इसलिए उसे भगवान् के ही समान मानना चाहिए। गुरु की एक सामान्य मनुष्य की भाँति, उपेक्षा या अवज्ञा नहीं की जानी चाहिए।

यदि कोई स्त्री इतनी भाग्यशाली हो कि वह किसी शुद्ध भक्त की पत्नी हो तो वह इन्द्रियतृप्ति की किसी इच्छा के बिना अपने पति की सेवा कर सकती है। यदि वह अपने उच्चस्थ पति की सेवा में लगी रहती है, तो उसे स्वतः ही अपने पति की आध्यात्मिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यदि शिष्य को प्रामाणिक गुरु मिल जाता है, तो केवल उसको प्रसन्न करके वह भगवान् की सेवा का अवसर प्राप्त कर सकता है।

चीरवासा व्रतक्षामा वेणीभूतशिरोरुहा ।

बभावुप पतिं शान्ता शिखा शान्तमिवानलम् ॥ ४४ ॥

#### शब्दार्थ

चीर-वासा—पुराने वस्त्र पहने; व्रत-क्षामा—तपस्या के कारण अत्यन्त दुर्बल; वेणी-भूत—उलझे हुए, लटें पड़ीं; शिरोरुहा—उसके बाल; बभौ—चमकती थी; उप पतिम्—अपने पति के निकट; शान्ता—अत्यन्त शान्त; शिखा—लपटें; शान्तम्—बुझी हुई; इव—सदृश; अनलम्—अग्नि के।

राजा विदर्भ की पुत्री पुराने वस्त्र पहनती थी। वह तपस्या के कारण अत्यन्त दुर्बल हो गई थी। वह अपने बाल नहीं सँवारती थी जिससे उसमें लटें पड़ गई थीं। यद्यपि वह सदैव अपने पति के निकट रहती थी, किन्तु वह अत्यन्त मौन थी तथा अविचलित अग्नि की लपट के समान अक्षुब्ध ( शान्त ) थी।

**तात्पर्य :** जब कोई लकड़ी जलाता है, तो पहले धुआँ तथा विक्षोभ होता है, किन्तु आग लगने पर लकड़ी ठीक से जलने लगती है। इसी प्रकार जब पति तथा पत्नी तप के नियमों का पालन करते हैं, तो वे शान्त रहते हैं और कामोत्तेजित नहीं होते। इस तरह पति-पत्नी दोनों को आध्यात्मिक लाभ मिलता

है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए विलासी जीवन का पूर्ण त्याग करना होता है।

इस श्लोक में *चीरवासा* शब्द पुराने फटे वस्त्रों के लिए आया है। पत्नी को विशेष रूप से संयमित होना चाहिए; उसे विलासी वस्त्रों की इच्छा नहीं करनी चाहिए। उसे अपनी आवश्यकताएँ कम-से-कम कर देनी चाहिए और भोजन तथा नींद भी घटा देनी चाहिए। मैथुन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यदि पत्नी अपने विशुद्ध भक्त पति की सेवा में लगी रहे तो उसे कभी कामेच्छा नहीं सताती। वानप्रस्थ अवस्था ऐसी ही है। यद्यपि पति तथा पत्नी साथ-साथ रह सकते हैं, किन्तु पत्नी इतना तप करती है कि मैथुन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार पति तथा पत्नी निरन्तर साथ-साथ रहते हैं। चूँकि पत्नी सदैव पति से निर्बल होती है, अतः इस श्लोक में इसको *उप पतिम्* शब्द से व्यक्त किया गया है। *उप* का अर्थ है “के निकट” अथवा “लगभग समान।” पुरुष होने से पति अपनी पत्नी की अपेक्षा अधिक आगे बढ़ा होता है, तो भी पत्नी से आशा की जाती है कि वह अपनी विलासप्रिय आदतें छोड़ दे। उसे अच्छे वस्त्र तक नहीं पहनने चाहिए और न ही बाल सँवारने चाहिए। बाल सँवारना स्त्रियों का मुख्य कार्य है। वानप्रस्थ आश्रम में पत्नी को अपने बालों की परवाह नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार उसके बालों में गांठें पड़ जायेंगी। फलतः पत्नी पति के लिए मोहक नहीं रहेगी और स्वयं भी कामेच्छा से विचलित नहीं होगी। इस प्रकार पति-पत्नी दोनों आध्यात्मिक चेतना में अग्रसर हो सकते हैं। यह उन्नत अवस्था परमहंस अवस्था कहलाती है और एक बार प्राप्त हो जाने पर पति-पत्नी देहात्मबुद्धि से छूट जाते हैं। यदि शिष्य गुरु की सेवा में अविचल रहे तो उसे माया के चंगुल में फँसने का डर नहीं रह जाता।

अजानती प्रियतमं यदोपरतमङ्गना ।

सुस्थिरासनमासाद्य यथापूर्वमुपाचरत् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

अजानती—न जानने से; प्रिय-तमम्—प्राणप्रिय पति को; यदा—जब; उपरतम्—मर गया; अङ्गना—स्त्री; सुस्थिर—अविचल; आसनम्—आसन में; आसाद्य—निकट जाकर; यथा—जिस तरह; पूर्वम्—पहले; उपाचरत्—सेवा करती रही।

राजा विदर्भ की पुत्री सुस्थिर मुद्रा में आसन लगाये अपने पति की तब तक पूर्ववत् सेवा करती रही, जब तक उसे यह पता नहीं लग गया कि उसने इस शरीर से कूच कर दिया है।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि रानी सेवा करते समय अपने पति से बोलती तक न थी। वह

केवल समुचित कार्य ही करती रहती थी। इस प्रकार उसने तब तक सेवा करनी बन्द नहीं की जब तक उसके पति के शरीर से प्राण निकल नहीं गये।

यदा नोपलभेताङ्घ्रावूष्माणं पत्युर्चती ।  
आसीत्संविग्नहृदया यूथभ्रष्टा मृगी यथा ॥ ४६ ॥

#### शब्दार्थ

यदा—जब; न—नहीं; उपलभेत—अनुभव किया; अङ्घ्रौ—पावों में; ऊष्माणम्—गर्मी; पत्युः—अपने पति के; अर्चती—सेवा करते समय; आसीत्—हुई; संविग्न—चिन्तित; हृदया—हृदय में; यूथ-भ्रष्टा—अपने पति से बिछुड़ी; मृगी—हिरनी; यथा—जिस प्रकार।

जब वह अपने पति के चरण दबा रही थी तो उसे अनुभव हुआ कि उसके पाँव अब गरम नहीं हैं, अतः वह समझ गई कि उसने पहले ही इस शरीर को त्याग दिया है। अकेली छूट जाने पर उसे अत्यधिक चिन्ता हुई। अपने पति के साथ से विरहित वह अपने को उस मृगी के समान अनुभव करने लगी जो अपने पति से बिछुड़ गई हो।

तात्पर्य : ज्योंही शरीर में रक्त तथा वायु का संचार रुक जाता है, यह समझा जाता है कि आत्मा ने शरीर छोड़ दिया है। रक्त का संचार जब बन्द होता है, तो हाथ तथा पाँव ठंडे पड़ने लगते हैं। यह जानने के लिए कि शरीर जीवित है या नहीं, लोग हृदय की धड़कनों तथा हाथों और पाँवों का ठंडा पड़ना देखते हैं।

आत्मानं शोचती दीनमबन्धुं विक्लवाश्रुभिः ।  
स्तनावासिच्य विपिने सुस्वरं प्ररुरोद सा ॥ ४७ ॥

#### शब्दार्थ

आत्मानम्—अपने विषय में; शोचती—विलाप करती; दीनम्—दुखियारी; अबन्धुम्—बिना मित्र के; विक्लव—भग्नहृदया; अश्रुभिः—आँसुओं से; स्तनौ—उसके स्तन; आसिच्य—भिगोती; विपिने—जंगल में; सुस्वरम्—जोर से; प्ररुरोद—रोने लगी; सा—वह।

जंगल में अकेली तथा विधवा जाने पर विदर्भ की पुत्री विलाप करने लगी; उसके आँसू निरन्तर झड़ रहे थे जिससे उसके स्तन भीग गये थे और वह जोर-जोर से रो रही थी।

तात्पर्य : प्रतीकात्मक रूप में रानी को राजा की शिष्या माना गया है, अतः जब गुरु का मर्त्य शरीर छूटता है, तो शिष्य को उसी प्रकार रोना चाहिए जिस प्रकार राजा के मरने पर रानी रोती है। किन्तु शिष्य तथा गुरु कभी विलग नहीं होते, क्योंकि जब तक शिष्य गुरु के आदेशों का दृढ़ता से पालन

करता रहता है तब तक गुरु शिष्य के साथ रहता है। यह वाणी (शब्दों) की संगति कहलाती है। भौतिक उपस्थिति वपुः कहलाती है। जब तक गुरु भौतिक रूप में उपस्थित रहे, शिष्य को चाहिए कि गुरु के भौतिक शरीर की सेवा करे और जब उसका भौतिक शरीर न रहे तो शिष्य को चाहिए कि गुरु के आदेशों का पालन करे।

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजर्षे इमामुदधिमेखलाम् ।

दस्युभ्यः क्षत्रबन्धुभ्यो बिभ्यतीं पातुमर्हसि ॥ ४८ ॥

#### शब्दार्थ

उत्तिष्ठ—उठिये; उत्तिष्ठ—उठिये; राज-ऋषे—हे राजर्षि; इमाम्—यह पृथ्वी; उदधि—समुद्र से; मेखलाम्—घिरी हुई; दस्युभ्यः—चोरों से; क्षत्र-बन्धुभ्यः—दुष्ट राजाओं से; बिभ्यतीम्—अत्यधिक डरी; पातुम्—रक्षा करना; अर्हसि—तुम्हें चाहिए।

हे राजर्षि, उठिये, उठिये, देखिये, “जल से घिरी हुई यह पृथ्वी चोरों एवं तथाकथित राजाओं से भरी पड़ी है।” यह संसार अत्यधिक भयभीत है। आपका कर्तव्य है कि आप उसकी रक्षा करें।

तात्पर्य : जब कभी भगवान् या उनके प्रतिनिधि की आज्ञा से किसी आचार्य का आगमन होता है, तो वह धर्म स्थापित करता है, जैसाकि भगवद्गीता में कहा गया है। धर्म का अर्थ है भगवान् के आदेशों के अनुसार चलना। धर्म उसी समय से प्रारम्भ होता है जब कोई भगवान् की शरण में जाता है। आचार्य का यह कर्तव्य है कि वह प्रामाणिक धार्मिक प्रणाली चलाए और सबों को भगवान् के समक्ष नतमस्तक होने के लिए प्रेरित करे। धर्म का पालन करने के लिए भक्ति की जाती है, जिसमें विशेषकर श्रवण, कीर्तन, स्मरण जैसे नौ विभाग हैं। दुर्भाग्यवश जब आचार्य नहीं रहता तो चोर तथा अभक्त लाभ उठाकर तथाकथित स्वामियों, योगियों, उपकारियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं इत्यादि के रूप में अवैध सिद्धान्तों का प्रचलन कर देते हैं। वास्तव में मनुष्य-जीवन तो परमेश्वर की आज्ञाओं के पालन हेतु है, जैसाकि भगवद्गीता (९.३४) में कहा गया है—

मन्मना भव मभक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

“सदैव मेरे विषय में सोचने में अपना मन लगाओ तथा मेरे भक्त बनो। मुझे नमस्कार करो और मेरी पूजा करो। मुझमें पूर्णतः लिप्त रहकर तुम अवश्य ही मेरे पास आओगे।”

मानव-समाज का मुख्य कार्य ईश्वर के विषय में सदैव चिन्तन करना, उनका भक्त बनना, उनकी पूजा करना और उनके समक्ष नतमस्तक होना है। आचार्य, जो भगवान् का प्रामाणिक प्रतिनिधि होता है, इन सिद्धान्तों की स्थापना करता है, किन्तु जब उसका निधन हो जाता है, तो ये सारी बातें पुनः अव्यवस्थित हो जाती हैं। आचार्य के असली शिष्य इस स्थिति से उबरने के लिए गुरु के आदेशों का निष्ठापूर्वक पालन करते हैं। इस समय एक प्रकार से सारा संसार चोरों तथा अभक्तों से भयभीत है, अतः यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन संसार को अधार्मिक सिद्धान्तों से बचाने के लिए चलाया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि इस आन्दोलन में सहयोग दे, जिससे संसार में वास्तविक शान्ति तथा सुख लाये जा सकें।

एवं विलपन्ती बाला विपिनेऽनुगता पतिम् ।  
पतिता पादयोर्भर्तुं रुदत्यश्रूण्यवर्तयत् ॥ ४९ ॥

#### शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विलपन्ती—विलाप करती; बाला—अबोध स्त्री, अबला; विपिने—निर्जन वन में; अनुगता—साथ गई हुई; पतिम्—पति को; पतिता—गिरी हुई; पादयोः—पैरों पर; भर्तुः—पति के; रुदती—रोती हुई; अश्रूणि—आँसू; अवर्तयत्—गिरा रही थी।

इस प्रकार वह परम आज्ञाकारिणी पत्नी अपने मृत पति के चरणों पर गिर पड़ी और उस एकान्त वन में करुण क्रन्दन करने लगी। उसकी आँखों से आँसू झर रहे थे।

तात्पर्य : जिस प्रकार पतिपरायणा पत्नी अपने पति के मरने पर दुखी होती है, उसी तरह जब गुरु मरता है, तो सारे शिष्य शोक-संतप्त हो जाते हैं।

चित्तिं दारुमयीं चित्वा तस्यां पत्युः कलेवरम् ।  
आदीप्य चानुमरणे विलपन्ती मनो दधे ॥ ५० ॥

#### शब्दार्थ

चित्तिम्—चिता; दारु-मयीम्—लकड़ी से बनी; चित्वा—चुनकर; तस्याम्—उस पर; पत्युः—पति का; कलेवरम्—शरीर; आदीप्य—जलाकर; च—भी; अनुमरणे—उसके साथ मरने के लिए; विलपन्ती—विलाप करती; मनः—अपना मन; दधे—स्थिर किया।

तब उसने लकड़ियों से चिता बनाकर और अग्नि लगाकर उसमें अपने पति के शव को रख दिया। इस सबके बाद वह दारुण विलाप करने लगी और अपने पति के साथ अग्नि में भस्म होने के लिए स्वयं भी तैयार हो गयी।

**तात्पर्य :** यह अत्यन्त प्राचीन वैदिक प्रथा है कि श्रद्धावान पत्नी अपने पति के साथ ही मर जाती है। यह सह-मरण कहलाता है। यह प्रथा भारत में अंग्रेजों के आगमन काल तक प्रचलित थी। किन्तु उस समय तक यदि कोई स्त्री पति के साथ नहीं मरना चाहती थी तो कभी-कभी उसके सम्बन्धी उसे बलपूर्वक ऐसा करने के लिए बाध्य कर देते थे। पहले ऐसा न था। पत्नी स्वेच्छा से अग्नि में प्रवेश करती थी। ब्रिटिश सरकार ने इसे अमानुषिक समझ कर बन्द करा दिया। किन्तु हम भारत के प्राचीन इतिहास में पाते हैं कि जब महाराज पाण्डु मरे तो उनकी दो पत्नियाँ माद्री तथा कुन्ती जीवित थीं। प्रश्न यह था कि वे दोनों मरें या एक। महाराज पाण्डु की मृत्यु के बाद यह तय हुआ कि केवल एक ही मरे—माद्री अपने पति के साथ मरे और कुन्ती पाँचों पाण्डवों के पालन के लिए जीवित रहे। हमने १९३६ में देखा है कि एक पतिपरायणा पत्नी स्वेच्छा से अपने पति के साथ अग्नि में प्रविष्ट हुई थी।

इससे सूचित होता है कि भक्त की पत्नी को ऐसा करने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसी प्रकार गुरुभक्त शिष्य को चाहिए कि यदि वह गुरु के सन्देश को कार्य रूप देने में असफल रहता है, तो वह गुरु के साथ मर जाए। जिस प्रकार भगवान् इस पृथ्वी पर धर्म की पुनर्स्थापना के लिए आते हैं उसी तरह उनका प्रतिनिधि—गुरु—भी धर्म की पुनर्स्थापना के लिए आता है। यह तो शिष्यों का कर्तव्य है कि गुरु के सन्देश को ग्रहण करके उसे कार्यरूप में परिणत करें। अन्यथा अच्छा हो कि शिष्य भी गुरु के साथ मर जाये। दूसरे शब्दों में, गुरु की इच्छापूर्ति के लिए शिष्य को अपना जीवन-उत्सर्ग करने तथा अपने सारे निजी विचारों को त्यागने के लिए सन्नद्ध होना चाहिए।

तत्र पूर्वतरः कश्चित्सखा ब्राह्मण आत्मवान् ।

सान्त्वयन्वल्गुना साम्ना तामाह रुदतीं प्रभो ॥ ५१ ॥

#### शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; पूर्वतरः—पहले का पुराना; कश्चित्—कोई; सखा—मित्र; ब्राह्मणः—ब्राह्मण ने; आत्मवान्—अत्यन्त विद्वान्; सान्त्वयन्—सान्त्वना देते हुए; वल्गुना—अत्यन्त मधुर; साम्ना—शमन करने वाली वाणी से; ताम्—उसको; आह—कहा; रुदतीम्—रोदन करती हुई; प्रभो—हे राजा!.

हे राजन्, एक ब्राह्मण, जो राजा पुरञ्जन का पुराना मित्र था उस स्थान पर आया और रानी को मृदुल वाणी से सान्त्वना देने लगा।

**तात्पर्य :** पुराने मित्र का ब्राह्मण रूप में प्रकट होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परमात्मा रूप में कृष्ण सबके पुराने सखा हैं। वैदिक आदेशों के अनुसार कृष्ण जीव के पास बैठे रहते हैं। इस श्रुति मंत्र—*द्वा*

*सुपर्णा सयुजा सखायाः*— भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में सुहृद रूप में स्थित रहता है। भगवान् सदैव इच्छुक रहता है कि जीव उसके धाम वापस आये। साक्षी के रूप में जीव के पास बैठकर भगवान् उसे समस्त भौतिक सुखों को भोगने का अवसर प्रदान करता है, किन्तु जब भी समय मिलता है, तो वह उसे उपदेश भी देता है कि भौतिक साधनों से सुख भोगने की अपेक्षा वह भगवान् की ओर मुख मोड़े और उसका शरणागत बने। जब कोई अपने गुरु के सन्देश का अनुगमन करते के लिए उद्यत रहता है, तो उसका यह संकल्प भगवान् के दर्शन करने के समान होता है। जैसाकि पहले कहा गया है इसका अर्थ हुआ गुरु के आदेश से भगवान् से भेंट। यह *वाणी-सेवा* कहलाती है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *भगवद्गीता* के *व्यवसायात्मिका बुद्धरेकेह कुरुनन्दन* (२.४१) श्लोक की टीका करते हुए कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि गुरु के वचनों की सेवा करे। शिष्य को चाहिए कि जो गुरु आज्ञा दे उस पर दृढ़ रहे। इसी दिशा में चलकर वह भगवान् का दर्शन करता है।

भगवान् रानी के समक्ष ब्राह्मण रूप में प्रकट हुए, किन्तु वे अपने मूलरूप में श्रीकृष्ण रूप में क्यों नहीं प्रकट हुए? श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि जब तक कोई भगवान् के प्रेम में अत्यधिक आगे बढ़ा हुआ नहीं होता तब तक वह उन्हें उस रूप में नहीं देख सकता। फिर भी यदि वह अपने गुरु द्वारा बनाये गये नियमों में दृढ़ रहता है, तो वह किसी-न-किसी तरह भगवान् की संगति प्राप्त करता है। चूँकि भगवान् हृदय में स्थित हैं, अतः वे निष्ठावान् शिष्य को अन्तःकरण से उपदेश दे सकते हैं। इसकी भी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.१०) में हुई है—

*तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।*

*ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥*

“जो निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।”

निष्कर्ष यह निकला कि यदि कोई शिष्य अपने गुरु के सन्देश को कार्य-रूप देना चाहता है, तो वह तुरन्त *वाणी* या *वपुः* से परमेश्वर की संगति प्राप्त करता है। भगवान् के दर्शन का यही रहस्य है। भगवान् को वृन्दावन के किसी कुंज में विहार करते हुए देखने की अपेक्षा, यदि कोई अपने गुरु के वचनों के पालन के नियम पर दृढ़ रहे तो वह बिना किसी कठिनाई के परमेश्वर का दर्शन कर सकता



है। इसीलिए श्रील बिल्व मंगल ठाकुर ने कहा है—

भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन् यदि स्याद्

दैवेन नः फलति दिव्यकिशोरमूर्तिः ।

मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलि सेवतेऽस्मान्

धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः ॥

“हे भगवान्! यदि मैं आपकी भक्ति में लगा होऊँ तो मैं आपको सर्वत्र उपस्थित पा सकता हूँ। जहाँ तक मुक्ति का प्रश्न है, मेरे विचार में वह तो मेरे द्वार पर हाथ जोड़े मेरी सेवा करने के लिए प्रतीक्षा करती है और उसके साथ धर्म, अर्थ तथा काम सम्बन्धी सारी भौतिक सुविधाएँ खड़ी रहती हैं।” (कृष्ण-कर्णामृत १०७)। यदि कोई भक्ति में बहुत आगे बढ़ा हुआ है, तो उसे भगवान् के दर्शन करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। यदि कोई अपने गुरु की सेवा करता है, तो वह न केवल भगवान् के दर्शन करता है, अपितु मुक्ति भी प्राप्त करता है। जहाँ तक भौतिक सुख-सुविधाएँ हैं, वे स्वतः आती हैं, जिस प्रकार रानी के पीछे-पीछे दासियाँ जाती हैं। शुद्ध भक्त के लिए मुक्ति कोई समस्या नहीं होती। सारी भौतिक सुविधाएँ जीवन के हर स्तर पर उसकी प्रतीक्षा करती रहती हैं।

ब्राह्मण उवाच

का त्वं कस्यासि को वायं शयानो यस्य शोचसि ।

जानासि किं सखायं मां येनाग्रे विचचर्थ ह ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः उवाच—विद्वान् ब्राह्मण ने कहा; का—कौन; त्वम्—तुम; कस्य—किसकी; असि—हो; कः—कौन; वा—अथवा; अयम्—यह पुरुष; शयानः—लेटा हुआ; यस्य—जिसके लिए; शोचसि—तुम विलाप कर रही हो; जानासि किम्—क्या तुम जानती हो; सखायम्—मित्र को; माम्—मुझको; येन—जिसके साथ; अग्रे—पहले; विचचर्थ—तुम विचार-विमर्श करती थी; ह—निश्चय ही।

ब्राह्मण ने इस प्रकार पूछा: तुम कौन हो? तुम किसकी पत्नी या पुत्री हो? यहाँ लेटा हुआ पुरुष कौन है? ऐसा प्रतीत होता है कि तुम इस मृत शरीर के लिए विलाप कर रही हो। क्या तुम मुझे नहीं पहचानती हो? मैं तुम्हारा शाश्वत सखा हूँ। तुम्हें स्मरण होगा कि पहले तुमने मुझसे कई बार परामर्श किया है।

तात्पर्य : जब किसी व्यक्ति का कोई सम्बन्धी मरता है, तो विरक्ति स्वतः उत्पन्न होती है। यदि भौतिक आसक्ति के कल्मष से पूर्ण रूप से मुक्त हुआ जा सके तभी अन्तःकरण में स्थित परमात्मा से

परामर्श करना सम्भव है। जो शुद्ध एवं निष्ठावान् है उसे हृदयस्थ परमात्मा से परामर्श करने का अवसर प्राप्त होता है। परमात्मा शाश्वत चैत्यगुरु है और वह बाह्य रूप में उपदेशक तथा दीक्षा-गुरु के रूप में प्रकट होता है। भगवान् अन्तःकरण में निवास कर सकता है और मनुष्य के समक्ष प्रकट होकर उसे उपदेश भी दे सकता है। इस तरह गुरु अन्तःकरण में स्थित परमात्मा से भिन्न नहीं होता। किसी भी कल्मषहीन आत्मा या जीव को परमात्मा से साक्षात्कार का अवसर प्राप्त हो सकता है। जिस प्रकार अन्तःकरण में स्थित परमात्मा से परामर्श करने का अवसर प्राप्त होता है, उसी तरह अपने सम्मुख स्थित परमात्मा को देखने का अवसर मिलता है। तब मनुष्य परमात्मा से साक्षात् परामर्श कर सकता है। यह शुद्ध भक्त का कर्तव्य है कि वह प्रामाणिक गुरु के पास जाए और अन्तःकरण में स्थित परमात्मा से परामर्श करे।

जब ब्राह्मण ने स्त्री से पूछा कि भूमि पर लेटा कौन है, तो उस स्त्री ने उत्तर दिया कि वह उसका गुरु है और उसके अभाव से वह अत्यन्त व्यग्र है कि वह क्या करे। ऐसे अवसर पर परमात्मा तुरन्त प्रकट हो आता है, बशर्ते कि भक्त गुरु के आदेशों का पालन करके अपने हृदय को शुद्ध कर चुका हो। एक निष्ठावान् भक्त जो गुरु के आदेशों का पालन करता है, निश्चय ही, परमात्मा से अपने हृदय के माध्यम से आदेश प्राप्त करता है। इस प्रकार निष्ठावान् भक्त की सहायता प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से गुरु तथा परमात्मा द्वारा की जाती है। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में इसकी पुष्टि होती है—*गुरु कृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलता बीज*—यदि भक्त अपने गुरु की निष्ठापूर्वक सेवा करता है, तो कृष्ण स्वतः प्रसन्न होते हैं। *यस्य प्रसादाद् भगवद् प्रसादः*। गुरु को प्रसन्न कर लेने पर श्रीकृष्ण स्वतः प्रसन्न हो जाते हैं। इस प्रकार भक्त अपने गुरु तथा परमात्मा दोनों का लाभ उठाता है। परमात्मा आन्तरिक रूप से जीवात्मा का सखा है और सदैव उसके साथ रहता है। परमात्मा जीव की सहायता के लिए सदैव, यहाँ तक कि इस जगत की उत्पत्ति के पूर्व भी, उद्यत रहा है। इसीलिए यहाँ पर कहा गया है—*येनाग्रे विचर्चथ*। *अग्रे* शब्द का अर्थ है “उत्पत्ति के पूर्व।” इस प्रकार परमात्मा जीव के साथ सृष्टि के पूर्व से रह रहा है।

अपि स्मरसि चात्मानमविज्ञातसखं सखे ।

हित्वा मां पदमन्विच्छन्भौमभोगरतो गतः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

अपि स्मरसि—क्या तुम्हें स्मरण है; च—भी; आत्मानम्—परमात्मा को; अविज्ञात—अज्ञात; सखम्—मित्र को; सखे—हे मित्र; हित्वा—छोड़कर; माम्—मुझको; पदम्—पद, स्थिति; अन्विच्छन्—चाहते हुए; भौम—भौतिक; भोग—सुख; रतः—अनुरक्त; गतः—हो गये।

ब्राह्मण ने आगे कहा : हे मित्र, यद्यपि इस समय तुम मुझे तुरन्त नहीं पहचान सकते हो, किन्तु क्या तुम्हें स्मरण नहीं है कि भूतकाल में तुम मेरे अन्तरंग मित्र थे? दुर्भाग्यवश तुमने मेरा साथ छोड़ कर इस भौतिक जगत के भोक्ता का पद स्वीकार किया था।

तात्पर्य : जैसाकि भगवद्गीता (७.२७) में कहा गया है—

*इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत।*

*सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥*

“हे अर्जुन! हे शत्रुओं के विजेता! सभी जीव मोह में उत्पन्न होते हैं और इच्छा तथा घृणा के द्वन्द्व द्वारा अभिभूत होते हैं।” इस तथ्य की यह व्याख्या है कि किस प्रकार से जीव इस भौतिक जगत में आ पड़ता है। आध्यात्मिक जगत में न द्वैत है, न ही घृणा। भगवान् अनेक रूपों में अपना विस्तार करते हैं। अधिकाधिक आनन्द उठाने के लिए वे विभिन्न कोटियों में अपना विस्तार करते हैं। जैसाकि *वराह पुराण* में उल्लेख है—वे *विष्णु-तत्त्व* (स्वांश रूप) तथा अपनी तटस्था शक्ति (*विभिन्नांश*, जीव) में स्वयं विस्तार करते हैं। इस प्रकार से विस्तारित जीवों की संख्या अनन्त है, जिस प्रकार सूर्य-प्रकाश के कण सूर्य के असंख्य विस्तार हैं। जीव *विभिन्नांश* और भगवान् की तटस्था शक्ति हैं। जब जीवों को भोग की इच्छा होती है, तो वे द्वंद्व (द्वैत) की चेतना विकसित करते हैं और भगवान् की सेवा करने से घृणा करने लगते हैं। इस प्रकार जीव इस भौतिक जगत में आ पड़ते हैं। *प्रेम विवर्त* में कहा गया है—

*कृष्ण-बहिर्मुख हजा भोग-वाञ्छा करे।*

*निकट-स्थ माया तारे जापटिया धरे ॥*

जीव की सहज स्थिति यह है कि वह दिव्य प्रेमभाव से भगवान् की सेवा करे। किन्तु जब जीव श्रीकृष्ण की नकल करना चाहता है या स्वयं कृष्ण बनना चाहता है, तो वह भौतिक जगत में आ गिरता है। चूँकि श्रीकृष्ण परम पिता हैं, इसलिए जीवों के प्रति उनका स्नेह नित्य है। जब जीव भौतिक जगत में आ गिरता है, तो परमेश्वर अपने स्वांश विस्तार (परमात्मा) से जीव के साथ रहते हैं। इस प्रकार किसी-न-किसी दिन जीव भगवान् के धाम वापस जा सकता है।

अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करने से जीव भगवान् की सेवा से च्युत होता है और इस जगत में

भोक्ता के रूप में पद प्राप्त करता है। उससे भी ऊँचा पद प्राप्त करने की इच्छा से जीव उल्टे जन्म-मरण के चक्र में फँस जाता है। वह अपना पद मनुष्य, देवता, बिल्ली, कुत्ता, वृक्ष इत्यादि के रूप में चुनता है। इस प्रकार जीव चौरासी लाख योनियों में से शरीर ग्रहण करके अनेक प्रकार के सुखोपभोगों से अपने को सन्तुष्ट करता है, किन्तु परमात्मा यह नहीं चाहता कि जीव यह सब करे। फलतः परमात्मा उससे भगवान् की शरण में आने के लिए आदेश देता है। तब परमात्मा जीव का भार अपने ऊपर ले लेता है। किन्तु जब तक जीव भौतिक इच्छाओं से अदूषित न हो तब तक वह परमेश्वर की शरण में नहीं जा सकता। *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कहते हैं—

*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।*

*सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥*

“साधु पुरुष मुझे समस्त यज्ञों तथा तपस्याओं का परम कारण, समस्त लोकों तथा देवताओं का स्वामी तथा जीवों का कल्याणकर्ता हितैषी मानते हुए भौतिक यातनाओं से शान्ति प्राप्त करते हैं।”

परमेश्वर सबों का परम मित्र है, किन्तु जब कोई सुखी रहने की अपनी योजना बना रहा हो और इस तरह प्रकृति के गुणों में स्वयं को उलझा रहा हो तो वह अपने परम मित्र के आदेश से लाभ नहीं उठा सकता है। जब सृष्टि होती है, तो जीव अपनी पूर्व इच्छाओं के अनुसार विविध रूप धारण करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सभी योनियाँ या जीव-रूप एकसाथ उत्पन्न होते हैं। डार्विन का यह सिद्धान्त, कि प्रारम्भ में मनुष्य नहीं था, अपितु वह अनेकानेक वर्षों में विकसित हुआ, मात्र एक मूर्खतापूर्ण कथन है। वैदिक साहित्य से हमें पता चलता है कि इस ब्रह्माण्ड का प्रथम प्राणी ब्रह्मा था। सर्वाधिक बुद्धिमान होने के कारण उसने संसार-भर में पाई जाने वाली समस्त योनियों की सृष्टि का कार्यभार अपने ऊपर ले लिया।

हंसावहं च त्वं चार्य सखायौ मानसायनौ ।

अभूतामन्तरा वौकः सहस्रपरिवत्सरान् ॥ ५४ ॥

**शब्दार्थ**

हंसौ—दो हंस; अहम्—मैं; च—यथा; त्वम्—तुम; च—भी; आर्य—हे महापुरुष; सखायौ—दो मित्र; मानस-अयनौ—मानस सरोवर में एकसाथ; अभूताम्—हो गये; अन्तरा—पृथक्; वा—निस्सन्देह; ओकः—अपने असली घर से; सहस्र—हजारों; परि—लगातार; वत्सरान्—वर्षों।

हे मित्र, मैं और तुम दोनों हंसों के तुल्य हैं। हम एक ही मानसरोवर रूपी हृदय में साथ-साथ

रहते हैं, यद्यपि हम हजारों वर्षों से साथ साथ रह रहे हैं। किन्तु फिर भी हम अपने मूल निवास से बहुत दूर हैं।

**तात्पर्य :** जीव तथा भगवान् का मूल स्थान आध्यात्मिक जगत है जहाँ वे दोनों शान्तिपूर्वक एकसाथ रहते हैं। चूँकि जीव भगवान् की सेवा में लगा रहता है, इसलिए वे दोनों आध्यात्मिक जगत में आनन्दमय जीवन बिताते हैं। किन्तु जब जीव आनन्द उठाना चाहता है, तो वह भौतिक जगत में आ गिरता है। इस स्थिति में भी भगवान् उसके साथ परमात्मा रूप में सुहृद रहता है। अपनी विस्मृति के कारण जीव को पता नहीं चलता कि परमेश्वर परमात्मा रूप में उसके साथ है। इस प्रकार जीव प्रत्येक कल्प में बद्ध बना रहता है। यद्यपि भगवान् उसके मित्र के रूप में उसके साथ-साथ रहता है, किन्तु जीव विस्मृति के कारण उसे पहचान नहीं पाता।

स त्वं विहाय मां बन्धो गतो ग्राम्यमतिर्महीम् ।

विचरन्पदमद्राक्षीः कयाचिन्निर्मितं स्त्रिया ॥ ५५ ॥

#### शब्दार्थ

सः—वह हंस; त्वम्—तुम्हीं; विहाय—छोड़कर; माम्—मुझको; बन्धो—हे मित्र; गतः—चला गया; ग्राम्य—भौतिक; मतिः—चेतना; महीम्—पृथ्वी पर; विचरन्—घूमते हुए; पदम्—पद; अद्राक्षीः—तुमने देखा; कयाचित्—किसी के द्वारा; निर्मितम्—निर्मित; स्त्रिया—स्त्री द्वारा।

हे मित्र, तुम मेरे वही मित्र हो। जबसे तुमने मुझे छोड़ा है, तुम अधिकाधिक भौतिकतावादी हो गये हो और मेरी ओर न देख कर तुम इस संसार में, जिसे किसी स्त्री ने निर्मित किया है, विभिन्न रूपों में घूमते रहे हो।

**तात्पर्य :** जब जीव नीचे गिरता है, तो वह भौतिक जगत में आता है, जिसकी सृष्टि भगवान् की बहिरंगा शक्ति से हुई है। यहाँ पर इस शक्ति को “कोई स्त्री” या प्रकृति के रूप में वर्णित किया गया है। यह भौतिक जगत उन तत्त्वों से बना है, जो महत् तत्त्व से प्राप्त हुए। यह भौतिक जगत इस प्रकार बहिरंगा शक्ति द्वारा उत्पन्न होकर बद्धजीव का तथाकथित निवासस्थान बन जाता है। इस भौतिक जगत में जीव विभिन्न घर या कि विभिन्न शरीर स्वीकार करके इधर-उधर विचरता है। कभी वह उच्च लोकों का भ्रमण करता है, तो कभी निम्न लोकों का। कभी वह उच्च योनियों में घूमता है, तो कभी निम्न योनियों में। इस प्रकार वह अनन्त काल से इस भौतिक ब्रह्माण्ड के भीतर विचरता रहा है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव ।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज ॥

( श्रीचैतन्य-चरितामृत, मध्य १९.१५१ )

जीव अनेक योनियों में घूमता रहता है, किन्तु वह भाग्यशाली होता है जब उसकी पुनः अपने मित्र से या तो साक्षात् या उसके प्रतिनिधि रूप में, भेंट होती है ।

वास्तव में श्रीकृष्ण ही समस्त जीवों को भगवान् के धाम लौटने का उपदेश देते हैं । कभी-कभी वे अपना प्रतिनिधि भेजते हैं, जो उनके संदेश को जीवों तक पहुँचा कर उन्हें भगवान् के धाम लौटने के लिए प्रेरित करते हैं । दुर्भाग्यवश जीव भौतिक सुख में इतना लिप्त है कि वह न तो कृष्ण, न उनके प्रतिनिधि के आदेशों को गम्भीरता से लेता है । इस भौतिक प्रवृत्ति को इस श्लोक में ग्राम्यमतिः ( इन्द्रियतृप्ति ) कहा गया है । महीम् शब्द का अर्थ है “ इस भौतिक जगत के अन्दर । ” इस भौतिक जगत में सारे जीव कामोन्मुख हैं । फलतः वे अनेक शरीरों में बँध जाते हैं और संसार के कष्टों को सहते रहते हैं ।

पञ्चारामं नवद्वारमेकपालं त्रिकोष्ठकम् ।

षट्कुलं पञ्चविपणं पञ्चप्रकृति स्त्रीधवम् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

पञ्च-आरामम्—पाँच उद्यान; नव-द्वारम्—नौ द्वार; एक—एक; पालम्—पालक; त्रि—तीन; कोष्ठकम्—कमरे; षट्—छह; कुलम्—परिवार; पञ्च—पाँच; विपणम्—बाजार; पञ्च—पाँच; प्रकृति—भौतिक तत्त्व; स्त्री—स्त्री; धवम्—स्वामी ।

उस नगर ( शरीर ) में पाँच उद्यान, नौ द्वार, एक पालक ( रक्षक ), तीन कमरे, छह परिवार,

पाँच बाजार, पाँच तत्त्व तथा एक स्त्री है, जो घर की स्वामिनी है ।

पञ्चेन्द्रियार्था आरामा द्वारः प्राणा नव प्रभो ।

तेजोऽबन्नानि कोष्ठानि कुलमिन्द्रियसङ्ग्रहः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

पञ्च—पाँच; इन्द्रिय-अर्थाः—इन्द्रियविषय; आरामाः—उद्यानों; द्वारः—दरवाजे; प्राणाः—इन्द्रियों के छिद्र; नव—नौ; प्रभो—हे राजा; तेजः—अग्नि तथा जल; अबन्नानि—अन्न या पृथ्वी; कोष्ठानि—कोठे, कमरे; कुलम्—कुल, परिवार; इन्द्रिय-सङ्ग्रहः—पाँचों इन्द्रियाँ तथा मन ।

हे मित्र, पाँच उद्यान पाँच प्रकार के इन्द्रियसुख के विषय हैं और इसका रखवाला प्राण है, जो नौ द्वारों से आता जाता है । तीन प्रकोष्ठ तीन प्रमुख अवयव—अग्नि, जल तथा पृथ्वी—हैं ।

मन समेत पाँचों इन्द्रियों का समुच्चय इसके छह परिवार हैं।

तात्पर्य : पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—दृष्टि, स्वाद, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श। ये नौ द्वारों से होकर कार्य करती हैं, जो इस प्रकार हैं—दो आँखें, दो कान, एक मुँह, दो नथुने, एक जननेन्द्रिय तथा एक गुदा। ये छिद्र नगर के परकोटे के दरवाजों के तुल्य हैं। प्रमुख अवयव हैं—पृथ्वी, जल तथा अग्नि और मुख्यकर्त्ता है मन जो बुद्धि द्वारा अनुशासित है।

विपणस्तु क्रियाशक्तिर्भूतप्रकृतिरव्यया ।

शक्त्यधीशः पुमांस्त्वत्र प्रविष्टो नावबुध्यते ॥ ५८ ॥

#### शब्दार्थ

विपणः—बाजार; तु—तब; क्रिया-शक्तिः—कर्मेन्द्रियाँ; भूत—पाँच स्थूल तत्त्व; प्रकृतिः—भौतिक तत्त्व; अव्यया—शाश्वत; शक्ति—शक्ति; अधीशः—नियामक; पुमान्—मनुष्य; तु—तब; अत्र—यहाँ; प्रविष्टः—घुसा हुआ; न—नहीं; अवबुध्यते—समझ में आता है।

पाँच बाजार पाँचों कर्मेन्द्रियाँ हैं। वे पाँच शाश्वत तत्त्वों की संयुक्त शक्ति से अपना व्यापार करती हैं। इस सारी कर्मठता के पीछे आत्मा काम करता है। आत्मा पुरुष है और वही वास्तविक भोक्ता है। किन्तु इस समय शरीर रूपी नगर के भीतर छिपा होने के कारण वह ज्ञानशून्य है।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि में जीवात्मा पाँच तत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, आकाश तथा समीर—के बल पर प्रवेश करता है और इस प्रकार उसका शरीर बनता है। यद्यपि जीवात्मा भीतर से कार्य करता है, किन्तु फिर भी वह अज्ञात रहता है। जीवात्मा भौतिक सृष्टि में प्रवेश करता है, किन्तु माया से मोहित होने के कारण वह प्रच्छन्न रहता है। अज्ञान ( नावबुध्यते ) के कारण देहात्मबुद्धि की प्रधानता रहती है। यद्यपि बुद्धि स्त्रीलिंग है, किन्तु समस्त कार्यों में उसकी प्रधानता के कारण इस श्लोक में उसे अधीशः या नियामक कहा गया है। जीव अग्नि, जल तथा अन्न के बल पर जीवित रहता है। इन तीनों के संयोग से ही शरीर का पालन होता है। इसीलिए शरीर को प्रकृति या भौतिक सृष्टि कहा जाता है। सारे तत्त्व क्रमशः मिलकर मांस, अस्थि, रक्त इत्यादि बनाते हैं। ये सब विभिन्न कमरों के समान हैं। वेदों में कहा गया है कि पचने के बाद भोजन तीन भागों में बँट जाता है। ठोस अंश मल बन जाता है और अर्धतरल अंश मांस में परिणत हो जाता है। द्रव भाग पीला होता जाता है और यह पुनः तीन भागों में बँट जाता है। इनमें से एक मूत्र कहलाता है। इसी प्रकार अग्नि भाग भी तीन में विभाजित हो जाता है, जिनमें से एक अस्थि कहलाता है। पाँच तत्त्वों में से अग्नि, जल तथा भोजन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

ये तीनों पिछले श्लोक में वर्णित हैं, किन्तु आकाश तथा समीर का उल्लेख नहीं हुआ। इन सब की व्याख्या भगवद्गीता (१३.२०) में इस प्रकार हुई है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥

“भौतिक प्रकृति तथा पुरुष को अनादि समझना चाहिए। इनके रूपान्तर तथा गुणधर्म प्रकृति की उपज हैं।” प्रकृति तथा पुरुष शाश्वत हैं। जब वे दोनों सम्पर्क में आते हैं, तो विभिन्न प्रतिक्रियाएँ एवं स्वरूप बनते हैं। इन सबको प्रकृति के तीन गुणों की पारस्परिक क्रिया का प्रतिफल मानना चाहिए।

तस्मिंस्त्वं रामया स्पृष्टो रममाणोऽश्रुतस्मृतिः ।

तत्सङ्गादीदृशीं प्राप्तो दशां पापीयसीं प्रभो ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस स्थिति में; त्वम्—तुम; रामया—स्त्री के साथ; स्पृष्टः—सम्पर्क में होने से; रममाणः—रमण करते हुए; अश्रुत-स्मृतिः—आध्यात्मिक अस्तित्व की याद किये बिना; तत्—उसके; सङ्गात्—संगति से; ईदृशीम्—इस तरह की; प्राप्तः—प्राप्त हुई; दशाम्—दशा, अवस्था; पापीयसीम्—पापकर्मों से पूर्ण; प्रभो—मेरे मित्र ।

हे मित्र, जब तुम भौतिक इच्छा रूपी स्त्री के साथ ऐसे शरीर में प्रवेश करते हो तो तुम इन्द्रियसुख में अत्यधिक लिप्त हो जाते हो। इसीलिए तुम्हें अपना आध्यात्मिक जीवन भूल गया है। अपनी भौतिक अवधारणाओं के कारण तुम्हें नाना कष्ट उठाने पड़ रहे हैं।

तात्पर्य : जब मनुष्य भौतिकता में उलझ जाता है, तो उसमें आध्यात्मिक जीवन के विषय में सुनने की शक्ति नहीं रह जाती। आध्यात्मिक जीवन को भूलने के कारण ही वह भौतिक जगत में अधिकाधिक फँसता जाता है। यह पापकर्मों का फल है। पापकर्मों के कारण भौतिक अवयवों से विभिन्न प्रकार के शरीर विकसित होते हैं। राजा पुरञ्जन ने अपने पापकर्मों के कारण ही वैदर्भी नामक स्त्री का शरीर धारण किया था। भगवद्गीता स्पष्ट कहती है कि ऐसा शरीर निम्न जात मनुष्यों का होता है ( स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः )। किन्तु यदि कोई भगवान् की शरण ग्रहण करता है, तो वह निम्न जात होकर भी परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। मनुष्य निम्न कुल में तभी जन्म लेता है जब उसकी आध्यात्मिक बुद्धि घट जाती है।

न त्वं विदर्भदुहिता नायं वीरः सुहृत्तव ।



न पतिस्त्वं पुरञ्जन्या रुद्धो नवमुखे यया ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

न—न तो; त्वम्—तुम; विदर्भ—दुहिता—विदर्भ की पुत्री; न—नहीं; अयम्—यह; वीरः—वीर; सु-हृत्—हितैषी पति; तव—तुम्हारा; न—नहीं; पतिः—पति; त्वम्—तुम; पुरञ्जन्याः—पुरञ्जनी की; रुद्धः—बन्दी; नव-मुखे—नव द्वार वाले शरीर में; यया—माया से।

वास्तव में न तो तुम विदर्भ की पुत्री हो और न यह पुरुष ( मलयध्वज ) तुम्हारा हितेच्छु पति है। न ही तुम पुरञ्जनी के वास्तविक पति थे। तुम तो इस नव द्वार वाले शरीर में केवल बन्दी थे।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में अनेक जीव एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और एक विशेष प्रकार के शरीर से आसक्ति बढ़ जाने पर पिता, पति, माता, पत्नी इत्यादि के रूप में सम्बन्धित हो जाते हैं। वास्तव में प्रत्येक जीव की पृथक् पहचान है और पदार्थ के सम्पर्क के कारण ही वह अन्य शरीरों के साथ में रहता है और झूठे ही उनसे सम्बन्ध स्थापित करता है। झूठे शरीर परिवार, जाति, समाज तथा राष्ट्रीयता के नाम पर विविध संगतियाँ उत्पन्न करते हैं। वास्तव में प्रत्येक जीव भगवान् का अंश है, किन्तु जीव है कि भौतिक देह में अत्यधिक लिप्त रहता है। भगवान् कृष्ण प्रकट होकर भगवद्गीता तथा वैदिक साहित्य के रूप में उपदेश देते हैं। वे यह उपदेश इसलिए देते हैं, क्योंकि वे जीव के शाश्वत मित्र हैं। ये उपदेश महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनसे जीव को दैहिक व्यापारों से मुक्ति मिल सकती है। जब नदी का पानी नीचे की ओर बहता है, तो उसमें किनारे के अनेक तिनके तथा शैवाल मिलते रहते हैं। वे नदी की धारा के साथ बहते रहते हैं, किन्तु जब लहरें इन्हें इधर-उधर उछाल देती हैं, तो वे अलग हो जाते हैं और अन्यत्र जा लगते हैं। इसी प्रकार इस जगत में असंख्य जीव भौतिक प्रकृति की लहरों द्वारा ले जाये जा रहे हैं। ये लहरें कभी-कभी उन्हें इकट्ठा कर देती हैं और वे एक दूसरे से मित्रता तथा परिवार, जाति या राष्ट्रीयता का दैहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। अन्त में वे प्रकृति की लहरों द्वारा एक दूसरे से विलग कर दिए जाते हैं। यह क्रिया प्रकृति की उत्पत्ति के समय से ही चलती आ रही है। इस प्रसंग में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—

मिछे मायार वशे, याच्छ भेसे'

खाच्छ हाबुडुबु, भाइ

जीव कृष्ण-दास, ए विश्वास,

कार्ले त' आर, दुःख नाइ

“हे जीवो! तुम भौतिक प्रकृति की लहरों द्वारा ले जाये जा रहे हो। कभी तो तुम ऊपर होते हो, कभी डूबने लगते हो। इस प्रकार तुम्हारा शाश्वत जीवन विनष्ट हो रहा है। यदि तुम श्रीकृष्ण को पकड़ कर एक बार फिर उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण कर सको तो तुम दुखदायक सांसारिक कष्टों से उबर सकते हो।”

इस श्लोक में *सुहृत्* (हितैषी) तथा *तव* (तुम्हारा) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। किसी का तथाकथित पति, परिजन, पुत्र, पिता कोई भी वास्तव में हितैषी नहीं हो सकता है। एकमात्र हितैषी तो स्वयं श्रीकृष्ण हैं। जैसाकि श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (५.२९) में पुष्टि करते हैं—*सुहृदं सर्वभूतानाम्।* समाज, मित्रता, प्रेम तथा हितैषी—ये सब विभिन्न देहों में बंधे हुए होने के फलस्वरूप हैं। लोगों को इसे जानना चाहिए और शारीरिक फंदे से, जिसमें वह जन्म-जन्मांतर पड़ा रहता है, निकलने का प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करे और भगवान् के धाम वापस जाये।

माया ह्येषा मया सृष्टा यत्पुमांसं स्त्रियं सतीम् ।  
मन्यसे नोभयं यद्वै हंसौ पश्यावयोर्गतिम् ॥ ६१ ॥

#### शब्दार्थ

माया—माया; हि—निश्चय ही; एषा—यह; मया—मेरे द्वारा; सृष्टा—रचित; यत्—जिससे; पुमांसम्—नर को; स्त्रियम्—नारी को; सतीम्—साध्वी; मन्यसे—तुम मानते हो; न—नहीं; उभयम्—दोनों; यत्—क्योंकि; वै—निश्चय ही; हंसौ—भौतिक कल्मष से रहित; पश्य—देखो; आवयोः—हमारी; गतिम्—अन्तिम स्थिति।

तुम कभी अपने को पुरुष, कभी सती स्त्री और कभी नपुंसक मानते हो। यह सब शरीर के कारण है, जो माया द्वारा उत्पन्न है। यह माया मेरी शक्ति है और वास्तव में हम दोनों—तुम और मैं—विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप हैं। तुम इसे समझने का प्रयास करो। मैं वास्तविक स्थिति बताने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

तात्पर्य : परमेश्वर तथा जीवात्मा दोनों की वास्तविक स्थिति गुणात्मक रूप से एक-सी है। परमेश्वर परम आत्मा है तथा जीवात्मा व्यष्टि आध्यात्मिक आत्मा है। यद्यपि दोनों ही मूल आध्यात्मिक स्वरूप हैं, किन्तु जीवात्मा जब भौतिक प्रकृति के सम्पर्क में आता है, तो अपनी पहचान को भूल जाता है और बद्ध हो जाता है। तब वह अपने को प्रकृति का प्रतिफल करके मानता है। भौतिक देह के कारण वह यह भूल जाता है कि वह परमेश्वर का सनातन अंश है। इसकी पुष्टि इस प्रकार होती है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । भगवद्गीता में सनातन शब्द कई स्थलों पर आया है। भगवान् तथा जीव दोनों ही सनातन हैं और सनातन नामक एक स्थान भी है, जो इस प्रकृति से परे है। जीव तथा ईश्वर का वास्तविक वासस्थान सनातन राज्य है, यह भौतिक जगत नहीं। यह भौतिक जगत अस्थिर है, भगवान् की बहिरंगा शक्ति है और जीव इस भौतिक जगत में इसलिए आया, क्योंकि वह भगवान् के पद का अनुकरण करना चाहता था। वह इस भौतिक जगत में यथाशक्ति इन्द्रियभोग करने का प्रयत्न करता है। इस संसार में बद्धजीव के सारे कार्य विभिन्न प्रकार के शरीरों में सम्पन्न होते रहते हैं, किन्तु जब जीव को विकसित चेतना प्राप्त हो तो उसे अपनी स्थिति को सुधारने और पुनः वैकुण्ठ का सदस्य (वासी) बनने का प्रयत्न करना चाहिए। जिस विधि से वह भगवान् के धाम वापस जा सकता है, वह भक्तियोग है, जिसे कभी-कभी सनातन धर्म कहते हैं। भौतिक देह के अनुसार किसी क्षणिक धर्म को न स्वीकार करके मनुष्य को सनातन धर्म या भक्तियोग स्वीकार करना चाहिए जिससे वह भौतिक देहों के इस बन्धन से छुटकारा पा सके और भगवान् के धाम वापस जा सके। जब तक मानव-समाज झूठी भौतिक पहचान (स्वरूप) के आधार पर कार्य करता रहेगा, तब तक सारा विज्ञान तथा दर्शन का तथाकथित विकास व्यर्थ है। उनसे मानव-समाज गुमराह होता है। अन्धा यथान्धैरुपनीयमानाः । इस संसार में अन्धा अन्धे का मार्गदर्शन कर रहा है।

अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः ।

न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि ॥ ६२ ॥

#### शब्दार्थ

अहम्—मैं; भवान्—तुम; न—नहीं; च—भी; अन्यः—भिन्न; त्वम्—तुम; त्वम्—तुम; एव—निश्चय ही; अहम्—मैं हूँ; विचक्ष्व—देखो; भोः—हे मित्र; न—नहीं; नौ—हमारा; पश्यन्ति—देखते हैं; कवयः—विद्वान् पुरुष; छिद्रम्—दोष; जातु—किसी समय; मनाक्—किञ्चित्; अपि—भी।

हे मित्र, मैं परमात्मा और तुम आत्मा होकर भी हम गुणों में भिन्न नहीं हैं, क्योंकि हम दोनों आध्यात्मिक हैं। वास्तव में, हे मित्र, तुम मुझसे अपनी स्वाभाविक स्थिति में भी गुणात्मक रूप से भिन्न नहीं हो। तुम इस विषय पर तनिक विचार करो। जो वास्तव में महान् विद्वान् हैं और जिन्हें ज्ञान है वे तुममें तथा मुझमें कोई गुणात्मक अन्तर नहीं पाते।

तात्पर्य : भगवान् तथा जीव दोनों ही गुणात्मक रूप से एक हैं। इन दोनों में कोई तथ्यात्मक अन्तर नहीं है। मायावादी चिन्तक बारम्बार माया से इसीलिए पराजित होते रहते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि

परमात्मा तथा आत्मा में कोई भेद नहीं है अथवा परमात्मा है ही नहीं। वे सोचने में यह भी भूल करते हैं कि प्रत्येक वस्तु परमात्मा है। किन्तु जो कवयः अर्थात् विद्वान हैं, वे तथ्यों से परिचित होते हैं। वे ऐसी भूल नहीं करते। वे जानते हैं कि ईश्वर तथा आत्मा गुण में एक ही हैं, किन्तु जीवात्मा माया के चंगुल में पड़ता है, जबकि परमात्मा माया का नियन्ता है। माया तो परमेश्वर की सृष्टि है ( मया सृष्टा ); अतः परमेश्वर माया का अधीक्षक होता है। यद्यपि जीवात्मा गुण में परमेश्वर के ही तुल्य है, किन्तु वह माया के वश में है। मायावादी चिन्तक अधीक्षक तथा अधीन में भेद नहीं कर पाते।

यथा पुरुष आत्मानमेकमादर्शचक्षुषोः ।

द्विधाभूतमवेक्षेत तथैवान्तरमावयोः ॥ ६३ ॥

#### शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; पुरुषः—जीवात्मा; आत्मानम्—अपने शरीर को; एकम्—एक; आदर्श—दर्पण में; चक्षुषोः—आँखों से; द्विधा-आभूतम्—दो के रूप में उपस्थित; अवेक्षेत—देखता है; तथा—उसी तरह; एव—निश्चय ही; अन्तरम्—अन्तर; आवयोः—हम दोनों में।

जिस प्रकार मनुष्य अपने शरीर के प्रतिबिम्ब को दर्पण में अपने से अभिन्न देखता है जब कि दूसरे लोग वास्तव में दो शरीर देखते हैं, उसी प्रकार अपनी इस भौतिक अवस्था में जिसमें जीव प्रभावित होकर भी प्रभावित नहीं होता, ईश्वर तथा जीव में अन्तर होता है।

तात्पर्य : मायावादी चिन्तक परमेश्वर तथा जीव के बीच कोई अन्तर नहीं देख पाते, क्योंकि वे पदार्थ के प्रतिबन्ध से प्रभावित रहते हैं। जब सूर्य घड़े के जल में प्रतिबिम्बित होता है, तो सूर्य को पता रहता है कि उसमें तथा जल में प्रतिबिम्बित सूर्य में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु जो अज्ञानी हैं, वे प्रत्येक घड़े में सूर्य के छोटे-छोटे प्रतिबिम्ब पाते हैं। जहाँ तक दीप्ति का प्रश्न है, वह तो मूल सूर्य तथा प्रतिबिम्ब दोनों में रहती है, किन्तु प्रतिबिम्ब छोटे होते हैं जबकि सूर्य अत्यन्त विशाल है। वैष्णव चिन्तक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जीव आदि भगवान् के लघु प्रतिरूप हैं। गुण की दृष्टि से जीव और भगवान् एक हैं किन्तु मात्रा की दृष्टि से जीव भगवान् के लघु अंश है। परमेश्वर पूर्ण, शक्तिमान तथा ऐश्वर्यवान है। पिछले श्लोक में भगवान् कहते हैं “मेरे मित्र, तुम और मैं अभिन्न हैं।” यह अभिन्नता गुणात्मक है, क्योंकि परमात्मा के लिए यह आवश्यक नहीं जान पड़ा कि वे याद दिलाते कि वे मात्रात्मक रूप में एक नहीं हैं। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति यह कभी नहीं सोचता कि वह और परमात्मा सभी प्रकार से एक से हैं। यद्यपि गुणात्मक रूप में भगवान् तथा जीवात्मा एक-से हैं, जीवात्मा अपनी

आध्यात्मिक पहचान को भूलता रहता है, किन्तु परमात्मा कभी नहीं भूलता। लिप्त और अलिप्त में यही भेद है। भगवान् सदैव अलिप्त रहते हैं, किन्तु जीवात्मा प्रकृति के संसर्ग में रहने के कारण अपनी वास्तविक पहचान को भूल जाता है, अतः जब वह अपने को बद्ध अवस्था में पाता है, तो अपनी पहचान शरीर रूप में करता है। किन्तु भगवान् के लिए शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं रहता। वे पूर्णतः आत्मा हैं, उनके भौतिक शरीर नहीं होता। यद्यपि जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही शरीर के भीतर रहते हैं, परमात्मा उपाधि से रहित है, जबकि बद्धजीव को विशेष प्रकार के शरीर के रूप में नामोद्दिष्ट किया जाता है। परमात्मा अन्तर्यामी कहलाता है और वह सर्वव्यापी है। *भगवद्गीता* (१३.३) में इसकी पुष्टि हुई है—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत—हे भारत! तुम्हें यह पता होना चाहिए कि मैं समस्त शरीरों का ज्ञाता भी हूँ।*

परमात्मा प्रत्येक शरीर में उपस्थित है, जबकि जीवात्मा विशेष प्रकार के शरीर में बद्ध रहता है। व्यष्टि आत्मा यह नहीं समझ पाता कि दूसरे शरीर में क्या हो रहा है, किन्तु परमात्मा को भली-भाँति पता है कि समस्त शरीरों में क्या हो रहा है। दूसरे शब्दों में, परमात्मा सदैव अपने पूर्ण आध्यात्मिक पद में उपस्थित रहते हैं जबकि जीवात्मा की अपने आपको भूलने की प्रवृत्ति होती है। न ही व्यष्टि आत्मा सर्वत्र उपस्थित रहता है। सामान्य रूप से जीवात्मा बद्ध अवस्था में परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध को नहीं समझ सकता, किन्तु कभी-कभी समस्त बद्ध स्थिति से मुक्त होने पर उसे परमात्मा तथा अपने में जो वास्तविक अन्तर है, वह दिखता है। जब परमात्मा आत्मा से कहता है, “मैं और तुम एक ही हैं,” तो बद्धजीव को गुणात्मक रूप से उसकी आध्यात्मिक पहचान याद कराने के लिए ऐसा होता है। *श्रीमद्भागवत* (३.२८.४०) में कहा गया है—

*यथोल्मुकाद्विस्फलिङ्गाद्भूमाद्वापि स्वसम्भवात् ।*

*अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात् ॥*

अग्नि के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं—लपट, चिनगारी तथा धूम। यद्यपि ये सभी गुण में एक हैं, किन्तु तो भी अग्नि, लपट, चिनगारी तथा धूम इन सबमें अन्तर है। जीव तो बद्ध हो जाता है, किन्तु भगवान् कभी भी बद्ध न होने के कारण भिन्न है। वेदों का कथन है—*आत्मा तथा पृथग् द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः । आत्मा जीवात्मा भी है और साथ ही साथ भगवान् भी जो सभी वस्तुओं का द्रष्टा है।*

यद्यपि दोनों आत्मा हैं, किन्तु उनमें सदा ही अन्तर रहता है। स्मृति में भी कहा गया है— *यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति।* जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती रहती हैं, उसी प्रकार विशाल आध्यात्मिक लपट में क्षुद्र जीवात्माएँ उपस्थित रहती हैं। *भगवद्गीता* (९.४) में भगवान् कृष्ण कहते हैं— *मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः*—सभी जीव मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। यद्यपि सारे जीव उन्हीं पर आश्रित हैं, जिस प्रकार विशाल लपट में छोटी-छोटी चिनगारियाँ रहती हैं, किन्तु दोनों पृथक्-पृथक् स्थित हैं। इस प्रकार *विष्णु पुराण* में कहा गया है—

*एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।*

*परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत् ॥*

“अग्नि एक स्थान पर रहती है, किन्तु वह गर्मी तथा प्रकाश का वितरण करती रहती है। इसी प्रकार भगवान् अपनी शक्तियों को विविध प्रकारों से वितरित करते रहते हैं।” जीवात्मा इन शक्तियों (तटस्था शक्ति)में से ही एक है। एक प्रकार से शक्ति तथा शक्तिमान एक हैं, किन्तु वे पृथक्-पृथक् स्थित हैं। इसी प्रकार *ब्रह्म-संहिता* में जिस सच्चिदानन्द रूप की पुष्टि हुई है (*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः*) वह जीवात्मा से उसकी बद्ध तथा मुक्त अवस्थाओं से भिन्न है। केवल नास्तिक ही जीवात्मा तथा भगवान् को सभी प्रकार से एक समझते हैं। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु कहते हैं— *मायावादी भाष्य शुनिले हय सर्वनाश*—यदि कोई मायावादी चिन्तकों के उपदेशों का पालन करे और यह विश्वास करे कि भगवान् तथा जीव एक हैं, तो वास्तविक दर्शन की दिशा में उसकी बुद्धि सदा के लिए भ्रष्ट समझो।

एवं स मानसो हंसो हंसेन प्रतिबोधितः ।

स्वस्थस्तद्व्यभिचारेण नष्टामाप पुनः स्मृतिम् ॥ ६४ ॥

**शब्दार्थ**

एवम्—इस प्रकार; सः—वह ( जीवात्मा ); मानसः—मन में एकसाथ रहने वाला; हंसः—हंस के समान; हंसेन—दूसरे हंस के द्वारा; प्रतिबोधितः—उपदेशित होकर; स्व-स्थः—आत्म-साक्षात्कार में स्थित; तत्-व्यभिचारेण—परमात्मा से बिछुड़ने के कारण; नष्टम्—नष्ट हुआ; आप—प्राप्त; पुनः—फिर से; स्मृतिम्—वास्तविक स्मरण शक्ति।

इस प्रकार दोनों हंस हृदय में एकसाथ रहते हैं। जब एक हंस दूसरे को उपदेश देता है, तो वह अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहता है। इसका अर्थ है कि वह अपनी मूल कृष्णचेतना को प्राप्त कर लेता है, जिसे उसने भौतिक आसक्ति के कारण खो दिया था।

**तात्पर्य :** यहाँ स्पष्ट कहा गया है— *हंसो हंसेन प्रतिबोधितः ।* जीवात्मा तथा परमात्मा की उपमा दो हंसों से दी गई है, क्योंकि वे निष्कलंक अर्थात् श्वेत होते हैं, किन्तु इनमें से एक हंस श्रेष्ठ है और दूसरे का उपदेशक है। जब निम्न हंस दूसरे से बिछुड़ जाता है, तो वह भौतिक सुख के प्रति आकृष्ट होता है। यही उसके पतन का कारण है। किन्तु जब वह दूसरे हंस से उपदेश ग्रहण करता है, तो उसे अपनी वास्तविक स्थिति का बोध होता है और वह अपनी मूल चेतना को फिर से प्राप्त कर लेता है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण अपने भक्तों को उबारने तथा असुरों को मारने के लिए अवतरित होते हैं। वे *भगवद्गीता* के रूप में अपना उदात्त (उत्कृष्ट) उपदेश भी देते हैं। जीव को भगवान् तथा गुरु की कृपा से अपनी स्थिति को समझना होता है, क्योंकि मात्र शैक्षिक योग्यता से *भगवद्गीता* के मूलपाठ को नहीं समझा जा सकता। मनुष्य को सिद्ध पुरुष से *भगवद्गीता* सीखनी चाहिए।

*तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।*

*उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥*

“गुरु के पास जाकर सत्य सीखने का प्रयत्न तो करो। उससे विनम्रतापूर्वक जिज्ञासा करो और उसकी सेवा करो। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति तुम्हें ज्ञान प्रदान कर सकता है, क्योंकि उसने सत्य को देखा है।” (*भगवद्गीता* ४.३४)

इस प्रकार मनुष्य को प्रामाणिक गुरु की खोज करके अपनी मूल चेतना प्राप्त करनी चाहिए। तब जीव की समझ में आयेगा कि वह परमात्मा के सदैव अधीन है। ज्योंही वह अधीनता अस्वीकार करके भोक्ता बनने कि चेष्टा करता है, उसका भौतिक बन्धन प्रारम्भ हो जाता है। जब वह स्वामी अथवा भोक्ता बनने के भाव का परित्याग करता है, तो वह मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है। *स्वस्थः* शब्द का अर्थ है—“अपनी मूल स्थिति में होना।” जब वह श्रेष्ठता की अवांचित मनोवृत्ति को छोड़ देता है, तो वह अपनी मूल स्थिति को प्राप्त करता है। *तद्व्यभिचारेण* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह सूचित करता है कि जब जीव अवज्ञावश ईश्वर से विलग हो जाता है, तो उसकी वास्तविक चेतना जाती रहती है। केवल कृष्ण तथा गुरु की कृपा से वह अपनी मुक्त अवस्था को प्राप्त कर सकता है। ये श्लोक श्रील नारद मुनि द्वारा कहे गये हैं और इन्हें कहने का उनका मूल उद्देश्य है हमारी चेतना को जाग्रत करना। यद्यपि जीवात्मा तथा परमात्मा गुणात्मक रूप से एक हैं, किन्तु जीवात्मा को परमात्मा के

आदेशों का पालन करना होता है। यही मुक्ति की अवस्था है।

बर्हिष्मन्नेतदध्यात्मं पारोक्ष्येण प्रदर्शितम् ।

यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान्विश्वभावनः ॥ ६५ ॥

### शब्दार्थ

बर्हिष्मन्—हे राजा प्राचीनबर्हि; एतत्—यह; अध्यात्मम्—आत्म-साक्षात्कार का वर्णन; पारोक्ष्येण—परोक्ष रूप से; प्रदर्शितम्—उपदेश किया; यत्—क्योंकि; परोक्ष-प्रियः—अप्रत्यक्ष वर्णन से रोचक; देवः—परमेश्वर; भगवान्—भगवान्; विश्व-भावनः—समस्त कारणों के कारण।

हे राजा प्राचीनबर्हि, समस्त कारणों के कारण भगवान् परोक्ष रूप से समझे जाने के लिए सुविख्यात हैं। इस प्रकार मैंने तुमसे पुरञ्जन की कथा कही। वास्तव में यह आत्म-साक्षात्कार के लिए उपदेश है।

**तात्पर्य :** पुराणों में आत्म-साक्षात्कार की ऐसी अनेक कथाएँ हैं। जैसाकि वेदों में कहा गया है—  
*परोक्षप्रिया इव हि देवाः।* पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ हैं, जो आध्यात्मिक विषयों में सामान्य पुरुष को आनन्द देने वाली हैं, किन्तु ये वास्तव में तथ्यों को बताने के लिए हैं। इन्हें आध्यात्मिक उद्देश्य से रहित केवल कथाएँ नहीं समझना चाहिए। इनमें से कुछ ऐतिहासिक तथ्यों को बताने वाली हैं। किन्तु मनुष्य को कथा के वास्तविक अभिप्राय में रुचि होनी चाहिए। अप्रत्यक्ष उपदेश सामान्य मनुष्य की समझ में जल्दी आता है। वस्तुतः भक्तियोग का मार्ग भगवान् की लीलाओं के प्रत्यक्ष सुनने का मार्ग है (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*) किन्तु जो लोग भगवान् के कार्यों को प्रत्यक्ष नहीं सुनना चाहते या उन्हें समझ नहीं सकते वे नारद मुनि द्वारा वर्णित इस कथा के समान कथाओं या बोधकथाओं को सुनकर लाभ उठा सकते हैं।

इस अध्याय के कतिपय महत्त्वपूर्ण शब्दों का संग्रह नीचे दिया जा रहा है—

*आदेशकारी*—पापकर्मों से उत्पन्न क्रियाएँ।

*अगस्त्य*—मन।

*अमात्य*—इन्द्रियों का अधीक्षक, मन।

*अर्बुद-अर्बुद*—भगवान् के नाम, गुण रूप इत्यादि का विभिन्न प्रकार से श्रवण तथा कीर्तन।

*अरि*—अवरोध यथा रोग।

*भोग*—सुख। यहाँ यह शब्द आध्यात्मिक जीवन में वास्तविक सुख के लिए प्रयुक्त है।



भृत्य—शरीर के दास अर्थात् इन्द्रियाँ।

द्रविड-राज—भक्ति अथवा भक्ति करने का पात्र व्यक्ति।

द्वार—शरीर के दरवाजे, यथा आँखें तथा कान।

गृह—घर। आध्यात्मिक अनुशीलन के लिए एकान्त स्थान या भक्तों की सत्संगति आवश्यक है।

इध्मवाह—वह भक्त जो गुरु के पास जाता है। इध्म का अर्थ है समिधा। ब्रह्मचारी को यज्ञ करते समय समस्त अग्नि जलाने के लिए इस इध्म को ले जाना होता है। आध्यात्मिक उपदेश के द्वारा ब्रह्मचारी को शिक्षा दी जाती है कि वह अग्नि जलाकर प्रातःकाल आहुति दे। उसे गुरु के पास जाकर आध्यात्मिक विषयों की शिक्षा ग्रहण करनी होती है। वैदिक आदेश तो यह है कि जब वह गुरु के पास जाये तो यज्ञ करने के लिए अपनी समिधा लेकर जाये। वैदिक आदेश यह है—

*तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।*

*समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥*

“आध्यात्मिक विषय सीखने के लिए शिष्य को गुरु के पास जाना चाहिए। ऐसा करने के लिए उसे यज्ञ के लिए समिधा ले जाना चाहिए। ऐसे गुरु का लक्षण यह है कि वह वैदिक निष्कर्ष समझने में निपुण होता है, अतः वह भगवान् की सेवा में निरन्तर लगा रहता है।” (मुण्डकोपनिषद् १.२.१२)। ऐसे प्रामाणिक गुरु की सेवा करके बद्धजीव भौतिक सुख से क्रमशः विरक्त होता जाता है और गुरु के निरीक्षण में आत्म-साक्षात्कार की दिशा में प्रगति करता है। जो लोग माया से भ्रमित हैं, वे जीवन को सफल बनाने के लिए कभी-भी गुरु के पास जाने में रुचि नहीं दिखाते।

जाया—बुद्धि।

जीर्ण-सर्प—थकी हुई प्राण वायु।

कालकन्या—वृद्धावस्था की अशक्तता।

काम—तेज ज्वर।

कुलाचल—वह स्थान जहाँ किसी प्रकार का उहापोह नहीं होती।

कुटुम्बिनी—बुद्धि।

मदिरक्षण—वह जिसकी आँखें इतनी आकर्षक होती हैं कि जो भी उन्हें देखता है, वह प्रमत्त हो

जाता है अर्थात् अत्यन्त सुन्दरी तरुणी। जीव गोस्वामी के अनुसार मदिरेक्षण साक्षात् भक्ति की देवी है। यदि कोई भक्ति सम्प्रदाय के प्रति आकृष्ट होता है, तो वह भगवान् तथा गुरु की सेवा में लग जाता है और उसका जीवन सफल हो जाता है। वैदर्भी, जो एक स्त्री थी वह अपने पति की अनुगामिनी बन गई। जिस प्रकार अपने पति की सेवा के लिए उसने अपने आरामदेह घर को छोड़ दिया उसी प्रकार अध्यात्म ज्ञान के इच्छुक विद्यार्थी को अपने गुरु की सेवा के लिए सब कुछ छोड़ देना चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः*—यदि कोई जीवन में वास्तविक सफलता चाहता है, तो उसे अपने गुरु के आदेशों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए। ऐसा करने से वह आध्यात्मिक जीवन में तेजी से प्रगति कर सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती का यह कथन *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (६.२३) के निम्न आदेश के अनुसार है—

*यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।*

*तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥*

“केवल उन महान् लोगों को जो भगवान् तथा गुरु दोनों में निर्विवाद श्रद्धा रखते हैं, वैदिक ज्ञान स्वतः प्राप्त होता है।” *छान्दोग्य उपनिषद्* में कहा गया है—*आचार्यवान् पुरुषो वेद*—जो प्रामाणिक गुरु के पास जाता है, वही आत्मदर्शन के विषय में सब कुछ जान सकता है।

*मलयध्वज*—चन्दन के समान उत्तम भक्त।

*पञ्चाल*—पाँचों इन्द्रियविषय।

*परिच्छद*—चेतनाओं का समूह।

*पौर-जन*—शरीर को निर्मित करने वाले सातों तत्त्व।

*पौत्र*—धैर्य तथा गम्भीरता।

*प्रज्वार*—एक प्रकार का ज्वर, जिसे *विष्णुज्वार* कहते हैं।

*प्रतिक्रिया*—मंत्र तथा ओषधि जैसे प्रतिक्रिया दिखाने वाले कारक।

*पुर-पालक*—प्राणवायु।

*पुत्र*—चेतना।

*सैनिक*—तीन प्रकार के ताप।

सप्त-सुत—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन, पाद-सेवन, अर्चन तथा दास्य इत्यादि भक्ति के सात अंग ।

सौहृद्य—प्रयास ।

सुत—वैदर्भी का पुत्र, अर्थात् जो सकाम कर्म में आगे बढ़ा हो और भक्त गुरु के सम्पर्क में आये ।  
ऐसा व्यक्ति भक्ति में रुचि रखने लगता है ।

वैदर्भी—स्त्री जो पहले पुरुष थी, किन्तु जिसने अगले जीवन में स्त्री का जन्म लिया, क्योंकि वह स्त्री के प्रति अत्यधिक आसक्त था । दर्भ का अर्थ है कुश । कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों में कुश की आवश्यकता पड़ती है । वैदर्भी का अर्थ हुआ जो कर्मकाण्डीय बुद्धि वाले के घर में जन्म ले । किन्तु यदि कोई कर्मकाण्डीय कार्य करते हुए सौभाग्य से किसी भक्त के सम्पर्क में आता है, जिस प्रकार वैदर्भी ने मलयध्वज के साथ विवाह करके किया, तो उसका जीवन सफल हो जाता है । तब वह भगवान् की भक्ति करने लगता है । केवल प्रामाणिक गुरु के आदेशों के पालन से बद्धजीव मुक्त हो पाता है ।

विदर्भ-राजसिंह—श्रेष्ठ पुरुष जो कर्मकाण्ड में निपुण हो ।

वीर्य—कृपालु ।

यवन—यमराज का दास ।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत “अगले जन्म में पुरञ्जन को स्त्री-योनि की प्राप्ति” नामक अट्टाईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए ।